

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 13 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2015

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. भारतीय बुभूषा के मनीषी - आचार्य रघुवीर डॉ. लोकेशचन्द्र	9
2. जेपी को जानिए रामबहादुर राय	14
3. श्री अरविन्द : राष्ट्रीयता के अग्रदूत सुरेश चन्द्र त्यागी	29
4. सिख धर्म : मानवतावादी स्वरूप डॉ. महीप सिंह	36
5. हिन्दू धर्म, जैसा मैंने जाना केशीकान्त शकुन	48
7. साहित्य और संचार-माध्यमों की भाषा में अन्तर : चुनौतियाँ और समाधान नरेन्द्र कोहली	57
8. हिन्दी का बिगड़ता स्वरूप एवं विसंस्कृतिकरण का खतरा ब्रज बिहारी कुमार	62
9. शब्द, मन और साहित्य डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश'	67
10. असमिया राम-साहित्य में वर्णित राम वनगमन प्रो. दिनेश कुमार चौबे	75

11. 'तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें' ! पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	80
12. विकास की संकीर्ण समझ शंकर शरण	111
13. पुस्तक चर्चा गहि न जाई अस अद्भुत बानी : मुटुर मुटुर ताकती भारतीय आँखें मनोज कुमार राय	120
पाठकीय प्रतिक्रिया	126
प्राप्ति-स्वीकार	127

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

अभी अभी हम एक बेहद उत्तेजक तनावपूर्ण बौद्धिक वातावरण से गुजरे हैं, जिसकी याद हमारे मन पर स्वस्थ प्रभाव नहीं छोड़ती। उत्तर प्रदेश के दादरी में गौहत्या की अफवाह फैली और उत्तेजक भीड़ ने एक मुस्लमान को मार डाला; फिर कर्नाटक में एक लेखक कुलबर्गी की हत्या कर दी गयी। भारतीय जनता पार्टी के महाराष्ट्र में सत्ताशीन होने के पहले, कांग्रेसी शासन के दौरान ऐसी ही एक घटना उस राज्य में घटी थी। इन घटनाओं ने लेखकों, कलाकारों की उद्वेलित किया: उनके विवेक को झकझोरा। विचलित लेखकों, कलाकारों ने अपने तमगे, साहित्यिक पुरस्कार लौटाना शुरू किया; समाचार माध्यमों ने इसे सिर पर उठा लिया, जैसा कि वे पहले भी करते रहे थे; खान-बन्धु सपरिवार आतंकित हो उठे। हिन्दू असहिष्णुता पर छिड़ा विवाद थमने का नाम नहीं ले रहा था। विवाद तबतक चलता रहा, जबतक बिहार का चुनाव चलता रहा। फिर इसका लाभ विद्वत् प्रेमी राजनीतिक दलों को मिला भी।

यहाँ पुरस्कार लौटानेवाले साहित्यकारों कलाकारों के विषय में कुछ जानकारी देना गलत नहीं होगा। पुरस्कार लौटाने वालों में अग्रणी नयनतारा सहगल जवाहरलाल नेहरू की बहन विजयालक्ष्मी पंडित की बेटी हैं। वे इंदिरा गांधी की आलोचक रही हैं; 1984 के सिख हत्याकाण्ड में कांग्रेसी संलग्नता की जाँच के लिए उन्होंने "नागरिक आजादी के लिए जन संगठन" (People's Union for Civil Liberties, PUCL) का गठन किया था। उस हत्याकाण्ड के मात्र दो वर्ष बाद 1986 में उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार लेने में हिचक नहीं हुई, और न उसके मात्र एक साल बाद ही कांग्रेसी शासन के दौरान हुए भागलपुरदंगे में एक हजार मुसलमानों के मारे जाने पर भी उस पुरस्कार को लौटाने की याद आयी। नयनतारा सहगल की ही तरह केकी एन. दारुवाला — *द कीपर आफ द डेड*, कविता-संग्रह के कवि — का विवेक 1984 की नरहत्याओं के समय नहीं जागा था और न राजीव गांधी द्वारा सलमान रूस्दी की पुस्तक *सैटानिक वर्सेस* को प्रतिबंधित करने के समय। आश्चर्य है कि दारुवाला ने तो साहित्य अकादमी पुरस्कार ठीक उसी वर्ष, 1984 में ही, लिया था।

कश्मीरी उर्दू लेखक गुलाम नबी खयाल की इच्छा "ऐसे देश में रहने की है जो 'सेक्युलर' हो, जहाँ बोलने की स्वतंत्रता हो, और जहाँ साम्प्रदायिक तत्त्वों द्वारा धार्मिक पहचान को खतरा न हो।" ध्यान देने की बात है कि नबी खयाल ने साहित्य अकादमी

पुरस्कार 1975 में तब स्वीकार किया था, जब इन्दिरा गांधी ने इमर्जेन्सी लगा रखी थी, जो उनकी नजर में शायद बोलने की पूरी स्वतंत्रता देती हो। और कश्मीरी पंडितों का घाटी से पलायन का कारण भी, शायद, उनके अनुसार धार्मिक पहचान पर खतरे के कारण न हुआ हो।

83 वर्षीया असमी उपन्यासकार, *अभिजात्री* की लेखिका, निरुपमा बोरगोहाँई ने साहित्य अकादमी पुरस्कार असम के नेली हत्याकाण्ड के ठीक एक वर्ष बाद, 1984 में स्वीकार किया था। 1984 का वर्ष दिल्ली के सिक्ख हत्याकाण्ड का वर्ष भी रहा है; फिर असम में तो बिहारी या अन्य हिन्दी भाषियों, आदिवासियों, आदि की लगातार हत्याएँ होती रही हैं। कोक्राझार, ग्वालपाड़ा आदि के हत्याकाण्ड कोई मामूली हत्याकाण्ड नहीं थे। फिर कांग्रेसी शासन में लगातार हो रही उन हत्याओं ने इस असमी लेखिका की क्यों आन्दोलित नहीं किया? ऐसे में उन्होंने पुरस्कार स्वीकार ही क्यों किया? या अन्य ऐसे ही अवसरों पर उन्हें वापस क्यों नहीं किया?

लगे हाथ हिन्दी के दो लेखकों के साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाने की चर्चा भी आवश्यक है। ये लेखक हैं अशोक वाजपेयी तथा मध्य प्रदेश के ही राजेश जोशी। अशोक वाजपेयी को अपने कविता-संग्रह *कहीं नहीं वहीं* के लिए 1994 में तथा राजेश जोशी को भी अपने कविता-संग्रह *दो पंक्तियों के बीच* के लिए 2002 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिले थे। स्पष्टतः अशोक वाजपेयी के लिए राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के बाद की मारकाट का एवं राजेश जोशी के लिए गोधरा काण्ड एवं उसके बाद के गुजरात दंगों का कोई महत्त्व नहीं था। इनसे विचलित न होकर उन्होंने साहित्य अकादमी पुरस्कार लेना स्वीकार किया था। अशोक वाजपेयी भाजपा सरकार के कार्यकाल के दौरान दिल्ली से वर्धा “महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय” की वाइस-चान्सलरी चलाते रहे। ठीक तो यह रहता कि वे वर्धा जाकर यह काम करते। फिर अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार भी ‘कम्युनल’ बी.जे.पी. की ही सरकार थी। उस शासन के दौरान वे पद का लोभ त्याग देते। अमेरिकी संस्कृत विद्वान वेण्डी डोनिजर के संस्कृत ज्ञान से आश्चर्य नहीं; लेकिन अशोकवाजपेयी को अपनी ज्ञान की सीमाओं को लाँघकर उसे सर्टिफिकेट देने में परहेज नहीं, जैसा कि मैंने जनसत्ता में छपे उनके एक लेख में पाया था।

राजेश जोशी तो गुजरात दंगों के दौरान वहाँ के राहत कैंम्पों में भी जाते रहे, वे भाजपा प्रशासन के घोर विरोधी थे; तब एवं उसके बाद के वर्षों में उन्हें वह कुछ क्यों नहीं दिखायी दिया जो अभी दिखा? फिर यह बौद्धिक गैर-ईमानदारी क्यों कि पुरस्कार लेने का लाभ ले लो; फिर पुरस्कार लौटाने से मिले प्रचार का लाभ भी।

इसी संदर्भ में, फिल्म-उद्योग से जुड़े दो पुरस्कार लौटानेवालों का उल्लेख आवश्यक है, जिन्होंने पुरस्कार तो लौटाए पर उससे जुड़े पैसे नहीं। इस विषय में

उनका कहना था कि “पैसा तो लोगों का था।” यहाँ उनके तर्क का बेहुद्दापन स्वयं सिद्ध है।

ऊपर लिखे तथ्यों के संदर्भ में कुछ बातें खुलकर सामने आती हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक हैं। यदि पुरस्कार लौटाने का कारण ‘असहिष्णुता’ रही हो तो इनमें से अधिकांश के लिए पुरस्कार स्वीकार न करने के भी प्रबल कारण रहे हैं। प्रश्न है कि जो व्यक्ति 2-3 लोगों की मृत्यु पर विचलित हो सकता है, उसकी संवेदना लगातार हो रही सहस्राधिक हत्याओं से क्यों नहीं जगी? फिर उन्होंने पुरस्कार स्वीकार ही क्यों किए? फिर इसी तरह के कारणों से पुरस्कार पहले क्यों नहीं लौटाया?

उल्लिखित सारी बातों पर नजर डालने पर कुछ बातें खुलकर सामने आती हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है:

- (क) पुरस्कार लौटानेवाले साहित्यकारों/कलाकारों का व्यवहार तर्कसंगत नहीं रहा;
- (ख) ये स्मृतिलोप (selective amnesia) के शिकार हैं; दुहरा जीवन जीते हैं।
- (ग) इनको इस बात का डर नहीं कि लोग क्या कहेंगे। पहले ऐसा नहीं होता था। लेखक समाज से डरते थे कि समाज क्या कहेगा? या फिर दुहरे व्यवहार से उपजी लज्जा से ये लेखक मुक्त हो गये हैं; या फिर समाज को उन्होंने मूर्ख समझ रखा है।
- (घ) असहिष्णुता का मुद्दा जिन घटनाओं पर आधारित थी वे कांग्रेस-शासित उत्तर प्रदेश में घटी थी; महाराष्ट्र में तब घटी थी, जब वहाँ कांग्रेस का शासन रहा उत्तर प्रदेश में एक हिन्दू को इसलिए मार डाला गया था, क्योंकि उसने मुस्लिम लड़की से विवाह कर रखा था। उल्लेख्य है कि किसी ने — न ‘मिडिया’ ने और न लेखकों ने — उस मरने वाले हिन्दू का नाम लेना उचित समझा और न उन राज्यों में शासन करनेवाली पार्टियों का। स्पष्टतः उनका एजेण्डा राजनीति एवं विचार-धारा प्रेरित था।
- (ङ.) राजनीतिक कारणों से विवाद बिहार चुनाव के समय उठाया गया था, ताकि बी.जे.पी. — विरोधियों को लाभ पहुँचाया जा सके; विशेषतः कांग्रेस एवं उससे जुड़े दलों को। कहना नहीं होगा कि उनके इस कार्य से उन दलों को लाभ तो मिला ही।

असहिष्णुता पर उठे विवाद में समाचार-माध्यम सदा ही बढ़चढ़ कर हिस्सा लेते हैं; ऐसा इस बार भी हुआ। इस मामले में उसके एक वर्ग की गैर ईमानदारी, उसकी प्रायोजकता, किसी से छिपी नहीं है। ऐसे मामले सामने आए हैं कि किसी क्रिकेट खेलते बच्चे की गेंद से किसी अहिन्दू धर्म-स्थान के काँच की खिड़की फूट गयी और उसे प्रेस ने हिन्दू अहिष्णुता के रूप में जोरशोर से उछाला। वास्तविकता का पता चलनेपर न ‘मीडिया’ ने क्षमा माँगा, और न अहिन्दू संगठन ने।

असहिष्णुता से जुड़ा, समय समय पर उछाला जा रहा एक मुद्दा 'घर-वापसी' का भी रहा है। सवाल है कि जब धर्मन्तरण आवश्यक है, तो वापस अपने धर्म लौट आने में बुरा क्या है? इस देश ने जन-संख्यात्मक कारणों से देश का बँटवारा देखा है, फिर अपनी घटती जनसंख्या से हिन्दू चिन्तित क्यों न हों? और फिर बंगलादेशियों का अवैध प्रवेश, उन्हें प्रायोजित ढंग से बसाया जाना, हिन्दुओं की चिन्ता का कारण क्यों न बने?

इस देश में जितना असहिष्णु प्रहार नरेन्द्र मोदी ने झेला है, और वह भी इतने लम्बे समय तक, उतना किसी ने नहीं। उनकी छवि बिगाड़ने के लगातार प्रयत्न के बावजूद जनता ने श्री मोदी में अपना विश्वास जताया; उन्हें अपना प्रधान-मंत्री चुना। लेकिन उनके विरोधी उन्हें काम करने देना नहीं चाहते, चाहे देश का कितना भी नुकसान होता रहे। ऐसा अलोकतांत्रिक तरीके से किया जा रहा है; ऐसे में देश की राजनीतिक संस्कृति में बदलाव की पहल आवश्यक है। लेखकों/बौद्धिकों का एक वर्ग, जो विचाराधारात्मक कारणों एवं व्यक्तिगत एवं वर्गीकृत लाभ के लिए दल-विशेष से जुड़े रहकर सत्ताशीनों की दलाली करता रहा है, उसके प्रभाव से 'मीडिया' एवं शिक्षा-तंत्र को मुक्त कराया जाना चाहिए। लेखकों एवं बौद्धिकों को देशहित में न्याय-परक एवं स्वतंत्र चिन्तन का उदाहरण रखना चाहिए न कि दलगत तथा विचारधारा प्रेरित गति-विधियों का। हम अपने बच्चों की लगातार गलत शिक्षण सामाग्री परोसते जाते रहे हैं। हमारी तंद्रा टूटनी चाहिए। देर तो हो ही चुकी है।

— बी.बी. कुमार

श्रद्धांजलि

डॉ. महीप सिंह जी हमारे मान्य लेखक रहे हैं। दुर्भाग्यवश वे हमारे बीच नहीं रहे। उनका अन्तिम लेख हमें उनके स्वर्गवास के दस दिन पहले मिला था; जिसे हम इस अंक में छाप रहे हैं। हम उनकी आत्मा की शांति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

—संपादक

भारतीय बुभूषा के मनीषी - आचार्य रघुवीर

डॉ. लोकेशचन्द्र*

प्रथम स्वातन्त्र्य-समर में अँग्रेजों से टक्कर लिए हुए पचास वर्ष भी न हुए थे—उसकी स्मृतियाँ अभी अभिनव थीं। अँग्रेजी सम्राट् के प्रतिनिधि से हाथ मिलाकर भारतीय नरेश गंगाजल से हाथ धोना अथवा स्नान करना अभी न भूले थे — यह भारतीय अंतर्मूर्ति का ऐतिहासिक प्रतीक था। शनैः शनैः, पर सुनिश्चित रूप से, अँग्रेजी शिक्षा भारतीय मानस को अपनी ओर खींचे ले जा रही थी। परन्तु अँग्रेजी शिक्षा के द्वारा ही शिक्षित वर्ग में क्रान्ति के बीज पनपने लगे और भारत नवोन्मेष के लिए लालायित था। ऐसे युग में पिताजी का बाल्यकाल बीता और स्वतन्त्रता की सुलगती हुई चिंगारियों से वे अछूते न थे। जहाँ भारतीय पाश्चात्य राजनैतिक विचारों और संस्थाओं के द्वारा परतन्त्रता को खदेड़ना चाहते थे, वहाँ उन्हें अपने ही देश की अन्तरात्मा से प्रेरणा की भी उत्कट कामना थी। भारतीयों के हृदयों में जगद्गुरु अभी अंकित था — चाहे कितने ही धूमिल रूप में क्यों न हो। यह सांस्कृतिक स्वतन्त्रता भी पिताजी के हृदय में घर कर चुकी थी। पाठशाला-काल में ही इस की खोज की चुनौती पिताजी ने स्वीकार कर ली। एक स्नेहमय पुस्तक विक्रेता के यहाँ जाते और संस्कृत के काव्य, रामायण, महाभारत, निरुक्त, गणरत्नमहोदधि आदि पढ़ डाले। गणरत्नमहोदधि इंग्लैंड में छपा था — पाठशुद्धता और मुद्रण-सौन्दर्य का अप्रतिम मिश्रण था। बालक रघुवीर आश्चर्यस्तब्ध था कि वही अँग्रेज जो भारतीयता को रोंद रहा है क्या वही इतना संस्कृतानुरागी बन गया? क्या हमारी अनास्था का स्रोत ही हमें आस्था प्रत्यर्पण करा रहा है? पाठशाला के अध्ययनकाल में संस्कृत साहित्य का, विशेषतः व्याकरण का, अधिकांश भाग पढ़ डाला। कॉलेज की पढ़ाई के लिए लाहौर में डी.ए.वी. कॉलेज में प्रविष्ट हुए। लाला लाजपत राय की ज्वलन्त वाग्भिता ने और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने

*डॉ. लोकेश चन्द्र, अध्यक्ष, भारतीय अंतरराष्ट्रीय संस्कृति अकादमी, नई दिल्ली-110096 एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली
पता: जे 22 हौत खास एन्क्लेव, नई दिल्ली-110016. फोन: 011-26515800.

इस महाविद्यालय को आन्दोलित कर रखा था। यहाँ पिताजी विद्यार्थी-संगठनों में अग्रणी भाग लेते और कोई ऐसी सभा न थी जिसमें अपनी ऊर्जस्विनी वाणी से उत्साह का विकिरण न करते रहे हों। महाविद्यालय के पुस्तकालय में ही उनका अधिकांश समय बीतता। पठन की लगन देख पुस्तकाध्यक्ष यहाँ तक उद्यत हो गए कि पिताजी को कुंजी दे दी जाए - अनहोनी घटना थी। पुस्तकालय संस्कृत ग्रन्थों और पाश्चात्य विवेचनों, समीक्षाओं, ऐतिहासिक निर्वचनों से परिप्लुत था। भारत की अक्षरबद्ध सहस्राब्दियों का दिग्दर्शन करते-करते पिताजी के विश्वविद्यालयीन वर्ष बीत गए। प्राचीन हस्तलिपियों का अनुराग और अप्रकाशित दर्शनांचलों की आविर्भूति का आह्वान लिए पिताजी अपने जीवनपथ पर अग्रसर हुए। कुछ वर्ष अजमेर में बिताए, परन्तु अनुभव किया कि योरोप के दिग्गज विद्यापुरुषों के दर्शन भी किए जाएँ जिन्होंने अपने समस्त जीवन भारतीय संस्कृति को अर्पण किए हैं। अनेक आर्थिक कष्टों का सामना करते हुए योरोप के लिए चल दिए। फ्रांस में मार्सेय समुद्रपत्तन पर उतरे। चारों ओर मांस का बीभत्स दृश्य था—कुछ खाने को नहीं था। रेल से लंडन पहुँचे—भूख से बाधित, वैभव और समृद्धि के देशों में, पर थे तो निशाचरों के ही देश में। लंडन में कोष्ठ ढूँढ़ा और सेवा की खोज में निकल पड़े जो उन्हें जीवनचर्या देवे और ज्ञानोपार्जन प्रारम्भ हो सके। एक दो दिन के उपरान्त जीविका की समस्या न रही और गवेषणा में जुट गए। यहाँ अनेक आश्चर्य घटे। तुलनात्मक भाषाविज्ञान पढ़ने गए तो प्राध्यापक ने अवेस्ता प्रारम्भ की। यह पारसी धर्मग्रन्थों की प्राचीन भाषा है। क्या देखते हैं—वैदिक संस्कृत से अनोखा साम्य। उदाहरणार्थ, अवेस्ता का यश्त 10, 6—

*तम् अमवन्तं यजतम् सूरम् दामोहु सविश्वम् मिथ्रम् यज्ञाह जओथाव्यो। अवेस्ता
तम् अमवन्तं यजतम् शूरं धामसु शविष्ठं मिथ्रं यज्ञे होत्राभ्यः॥ —संस्कृत*

आधुनिक योरोपीय भाषाएँ पढ़नी प्रारम्भ कीं। यहाँ भी विस्मयकारी आविष्कार हुआ—आधुनिक बोली हुई लिथुएनियन भाषा में संस्कृत की सातों विभक्तियाँ सुरक्षित। अनेकों पूर्वीय और पश्चिमीय भाषाएँ सीखीं और देववाणी संस्कृत की व्याप्ति के स्वर्णिम युगों की झँकियाँ निकलती गईं।

भाषा-सम्बन्धों की विशालता का दिग्दर्शन करते-करते भारत माता की ऐतिहासिक मूर्ति निहारने की दिवक्षा हुई। अतर्कित, अप्रत्याशित दर्शन हुए—प्रत्येक शती हमारी संस्कृति के उल्लासों से किशोर रघुवीर को उद्वेलित कर उठी। तीसरी शती ईसापूर्व में भारत अपना सन्देश बर्मा को प्रदान कर रहा था। ईसापूर्व दूसरी शती में लंका ने भारत के उपदेश को शाश्वत रूप से आत्मसात् किया। पहली शती में मलयद्वीप संस्कृत शिलालेखों को अपनी घरा में धारण किए हुए था, इन्डोनेसिया के द्वीपों में भारत की अजस्रता पदार्पण कर रही थी, और मध्य एशिया के मरुस्थलों में मैजिस्टेट अपने अभिलेख प्राकृत भाषा में रख रहे थे। चीनी भित्ति के अन्तिम छोर के निकट तुनहाइ में ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण शिलालेख भारत की दूरगम सीमाओं के साक्षी थे। प्रथम

शती के मध्य में भारत के आचार्य काश्यप और मातंग चीन में संस्कृत के ग्रन्थ लेकर दुर्लभ श्वेताश्वों पर लोयाइ. पहुँच रहे थे। तीसरी शती में वीतनाम में भारत की धारा बह रही थी। सन् 372 में कोरिया में भारतीय मठ की स्थापना हो रही थी। चौथी शती में कम्बुजदेश संस्कृतमय था। सन् 402 में संस्कृत के धुरंधर विद्वान् कुमारजीव चीन के सम्राट् की राजसभा में संस्कृत ग्रन्थों को चीनी में अनुवाद करने की बृहत्तम योजना को क्रियान्वित कर रहे थे। पाँचवीं शती में चीन की युनकाइ. गुहाओं में शिल्पी भारत के सन्देश को शिलाओं में अमर कर रहे थे। सन् 520 में बोधिधर्म ध्यान की योगाभ्यास-परम्पराएँ लिए चीन की ओर प्रस्थान कर रहे थे। छठी शती में जापान के राजकुमार अपने देश में भारतधर्म के संवर्धन के लिए प्रयत्नों में सफलतामंडित हो रहे थे। जापान की नगरी नारा में मृगवन उसे आश्रम की पावनता प्रदान कर रहा था। छठी शती में चीन के कोने-कोने में मन्दिर थे—राजवंशावलियों के अनुसार यह देश तीस हजार मन्दिरों से सुशोभित था। सातवीं शती में तिब्बत की बिखरी जातियों का समन्वय कर सम्राट् सोङ्त्साङ्गाभ्यों एक राष्ट्र का अभ्युदय कर रहे थे जिसकी सैनिक शक्ति चीन जैसे विशाल राष्ट्र के लिए विभीषिका थी—और तिब्बत को राष्ट्रमूर्ति प्रदान करने के लिए सभ्यता की नींव लिपि, कला और साहित्य का सर्जन करने के हेतु इस दूरदर्शी सम्राट् के मन्त्री संभोट हिमगिरि को वीर भारत की ओर अग्रसर हो रहे थे। मलाया में चीन के यात्री इत्सिंग संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे, और 13 अप्रैल 683 सन् में श्रीविजय की विजयिनी सेनाओं की महिला का गान संस्कृत में शिलालेखों में मलाया की भूमि पर अंकित हो रहा था। आठवीं में तिब्बत के सम्राट् ठिसोङ्देत्सेन् सभा बुला निश्चय कर रहे थे कि तिब्बत सदा ही अपना धर्म भारत से ग्रहण करेगा और संस्कृत की साहित्य-विभूति को आत्मसात् करने के प्रयोजन से दर्शन, तन्त्र, आयुर्वेद आदि की पारिभाषिक शब्दावली स्थिर कर साभ्ये के विशाल मन्दिर स्थापित कर रहे थे जिसमें मानव दिक्काल के जगत् को पार कर कैवल्यमय विश्वचैतन्य की दिवक्षा को साधना में परिणत कर सके। इन्हीं सम्राट् के राजवैध युथोक भारत आकर आयुर्वेद के ग्रन्थों, चित्रों, सारणियों और यन्त्रोपकरणों को ले जा रहे थे जो पिताजी ने अपनी यात्राओं में देखे और एकत्र किए। नवीं शती को अभ्युदय होते ही जापान के महाचार्य कोबोदाइशि तन्त्रों के अध्ययन का अपने देश में प्रवर्तन कर रहे थे। यही आचार्यवर जापानी वर्णमाला को संस्कृत के क्रम में पिरो रहे थे — आ, ई, ऊ, ए, ओ, का, की, कू, के, को... आदि। आज तक प्रत्येक जापानी शिशु अपनी साक्षरता इससे प्रारम्भ करता है। महाचार्य कोबोदाइशि का शिंगोन सम्प्रदाय संस्कृत मन्त्रोच्चारण के लिए विख्यात है। आज भी जापान के कोने-कोने में बारह हजार शिंगोन मन्दिर विकीर्ण हैं जहाँ नित्यप्रति की अर्चना संस्कृत मन्त्रघोष से “उदयवर्ष” को प्रतिक्षण पुनीतता अर्पण करती है। नवीं शती में कम्बुज देश में आंकोर के मीलों में विस्तीर्ण मन्दिरों के शिखर गगन स्पर्श कर रहे थे। लम्बे-लम्बे पाषाणमय

नागों से परिवृत्त मार्गों से निकल राजरमणियाँ भगवान् विष्णु की अर्चना करने जातीं। दसवीं, ग्यारहवीं शतियों में योगिराज मापां और मिलारेपा योगसाधना तिब्बत में पल्लवित कर रहे थे। बारहवीं शताब्दी में कोरिया के महान् योगाचार्य योजो कुक्सा ध्यान के केन्द्र खोलते जा रहे थे। तेरहवीं शती में विश्वविजयी मंगोलों की सेनाओं के लाखों घोड़ों की टाप का तुमुल नाद गीर्वाणी स्तोत्रों के सामने नीरव हो जाता। रक्तपिपासु मोंगोल सैनिक आतंकित वेषों में पर सौम्य मुद्रा में मन्द्र संस्कृत स्तोत्रों से राजधानी काराकोरम में देवघोष से गगन गुंजित कर रहे थे। चौदहवीं शती में थाइलैंड में राजधानी अयोध्या की स्थापना हो रही थी। भारतीय संस्कृति के वेरण्य प्रतीक रामायण की ही यह अयोध्या थी और यहाँ पर ही थाई भाषा में रामकीर्ति के शीर्षक से रामायण का रूपान्तर हो रहा था। और कितना लिखूँ। प्रत्येक शती का प्रत्येक वर्ष हमारी सांस्कृतिक विजय-वैजयन्ती को लहरा रहा था। एशिया की भूमि के खंड-खंड से मन्दिर मुखरित हो उठे, प्रतिमाएँ प्राणवन्त हो उठीं, ताडलिपियाँ पुकार पड़ीं, खंडहर सहस्रों मनीषियों की साधनाओं से प्रतिध्वनित हो उठे। पिताजी का भारत कुषाणों, शकों, हूणों, विदेशी मुसलमानों और अँग्रेजों के आक्रमणों का भार ही लादे हुए नहीं था जिसे अँग्रेजी ऐतिहासिकों ने प्राधान्य दिया था कि हमारी स्वतन्त्रता उन्मेष न पा जाए। उसका क्षण-क्षण ऊर्जैस्विनी प्रेरणा से ओत-प्रोत था। मन्दिर-मन्दिर का, प्रतिमा-प्रतिमा का, शिलालिपियों और ताडलिपियों का आह्वान पिताजी के मन में शिंजित हो उठा और पिताजी जीवन पर्यन्त मरुस्थलों, हिमावतों और सागरांचलों के अथक पथिक बन गए-विराट् भारत की बुभूषा के अनन्य मनीषी। इसका वृत्त उनकी ही लेखनी से एशिया के हृदयांचलों में भारत-भारती नाम से प्रस्तुत करने में व्यस्त हूँ। पिताजी के भगीरथ-प्रयासों के उच्छ्वास-निश्वास उनके आकुल पुत्र के विश्वासों में, संकल्पों में आविर्भूति के लिए विह्वल हैं। भारतमाता की अखंड ज्ञानज्योति सत्त्वमयी विहति में आकारकांक्षिणी है — मेरे प्रणवीर सखा कहाँ है।

एक दिन आधी रात के समय प्रबल खड़का हुआ। हम सब जगे और ऊपर के तले से नीचे उतर देखने आए। सब शान्त और मंगल था। रात सोयी हुई थी। ऊपर लौटे और हम सो गए। अगले दिन एक लामाजी से कहा कि वे रात्रि को नीचे सो जाया करें। उन्होंने सोना आरम्भ कर दिया। प्रतिदिन माताजी सबसे पहिले उठकर सरस्वती-विहार के द्वार खोलती हैं। प्रातः होने ही लगता है कि एक मुद्रलेखक (टाइपिस्ट) आ जाता है जो पिताजी के ग्रन्थों का मुद्रलेखन करता है। यह परम्परा पिताजी के ही काल की है और इसमें मेरे लिए भावना का सागर समाया हुआ है। द्वार खुलने पर लामाजी उठकर चले जाते हैं। 28 नवम्बर 1992 की प्रातः मैं ही माताजी से पहिले उठकर नीचे उतर आया — पौ फटने ही वाली थी, यद्यपि अँधिकारी छाई हुई थी और ओस हमारी बनिया की घासमयी हरितिमा पर व्याप्त थी। उतरते ही क्या देखता हूँ — खटिया पर लामाजी सोए हुए, पास में दण्ड, सिरहाने के समीप पोथी और

देवी का कवच। क्या हम भी मंगलग्रन्थ और देवीकवच रखते हैं — नहीं। भावों की उमड़न में सनातन आस्था का साक्षात्कार हुआ और शब्द निकल पड़े — मेरा इतिहास मेरे घर में सो रहा है। विचारों के तांते में शतियाँ सरपट झलक गईं। शीतश्यान हिमालय के दर्रों और घाटियों को पार करते हुए, तिब्बत के सम्राटों के भव्य दूतों से परिवृत्त, अस्थिवेधी शीत को चीरते हुए आचार्यों की यात्राओं के दृश्य उपस्थित होते गए। कैसी श्रद्धा और भक्ति से भारत के मनीषी यहाँ की धर्मभेरी लिए जा रहे थे — कहीं ताडपत्र थे, कहीं जपमालाएँ थीं, और कहीं हिमगिरि की विकरालता से रक्षा हेतु देवीकवच थे। शतियाँ बींधता हुआ उन सहस्रों देवी-कवचों का प्रतीक मेरे समक्ष ही पड़ा था। अपनी अनुभूति की उमंग बताने बाहर ओस से परिप्लुत घास पर वृक्षों के पास आया। किसे बताने—पिताजी को। यही पुराना अभ्यास था, वर्षों से चलता आया था। वे वृक्ष जिनकी छाया में हमने पिताजी के साथ कई विचारविमर्श किए थे आज मौन से धिरे थे। पिताजी भी नहीं थे—उनकी उमंगें मेरी तरंगों में समाई थीं। रात्रि की रोदनमयी ओस में पुत्र के अश्रु अविरत मिल रहे थे। यह नियति है, नियति अन्त्येष्टि क्रिया-कल्पों में पुत्र ने ही तो कहा था — निरालम्बोऽसि वायुभूतोऽसि, पर उनकी भव्य कृति मेरे सामने आ खड़ी हुई। पिताजी की कृति भारत की शाश्वती की पुकार है — अजर और अमर है। पिताजी भी उसी में लीन हैं और मुझसे ही नहीं आपको भी चुनौती है—अभिव्यक्ति के लिए विह्वल, शतियों की संचित प्रेरणा सृजनमय भविष्य की ओर अग्रसर होने की चुनौती है। भारतीय इतिहास का प्रणय मेरा एकाकी दायित्व ही नहीं, यह आप सबका है। भारतीय बुभूषा में मेरे पिताजी समाए हैं। बन्धु, भारत की मनीषा के आह्वान को अंगीकार करो, प्रबुद्ध शुद्ध भारती की पुकार को साकार करो, साकार करो, साकार करो ॥

जेपी को जानिए

रामबहादुर राय

भारत के राजनीतिक आकाश पर लोकनायक जयप्रकाश नारायण ध्रुवतारे की तरह बने रहेंगे। उनका राजनीतिक जीवन असाधारण था। लोग राजनीति में अक्सर उतरते हैं और सत्ता की दौड़ में शामिल हो जाते हैं। जयप्रकाश नारायण ने इस नियम को तोड़ा। खेल के नए नियम बनाए। वे अपनी जिन्दगी के आखिरी क्षण तक राजनीति में रहे, लेकिन सत्ता को ठुकराया। वे चाहते तो सत्ता के शिखर पर आसानी से पहुँच जाते। कहना यह चाहिए कि सत्ता का शिखर उन्हें निमंत्रण दे-देकर थक गया। सत्ता रूपी अप्सरा उन्हें रिझा नहीं पाई। इन मायनों में वे अक्षत योगी और तपस्वी बने रहे। ऐसे जयप्रकाश नारायण को लोगों ने पूरे मन से और दिल की गहराइयों से 'लोकनायक' की उपाधि दी। वह ऐतिहासिक क्षण था। तारीख थी- 5 जून, 1975। स्थान-पटना का गाँधी मैदान जो अनेक घटनाओं का जीता-जागता गवाह है। उस दिन उन्होंने कहा—“दोस्तो, संपूर्ण क्रांति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है।”

वे अपने पथ पर अविराम चलते रहे। उनका जन्म 11 अक्टूबर, 1902 को हुआ था। उस दिन विजयादशमी थी। हम जानते हैं कि विजयादशमी पूरे देश में विभिन्न रूपों में मनाई जाती है। कहीं पर वह राक्षस के वध का त्योहार है तो कहीं पर सीमा उल्लंघन के पराक्रम से जुड़ा हुआ है। जयप्रकाश नारायण जब अपनी जीवन संध्या की तरफ बढ़ रहे थे, तब आखिरी क्रांति का उन्हें निमंत्रण मिला। सचमुच, जिस आंदोलन की लहर ने उन्हें निमंत्रित किया उसमें उन्होंने क्रांति की संभावना पाई। इस कारण ही उन्होंने न अपनी उम्र का खयाल किया और न सेहत की परवाह, और समर में कूद पड़े। उन्हें सेनापति माना गया। वे जिस आमूल परिवर्तन के लिए छात्र जीवन से ही सक्रिय थे, जिसके लिए वे राजनीति में आए थे और सत्ता की राजनीति को ठोकर मारी थी, उसकी आहट ने उनमें नए रक्त का संचार किया। जिस उम्र में वे थे वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते व्यक्ति मन और तन से थक जाता है, शिथिल हो जाता है। उसमें उत्साह नहीं होता। वह भविष्य को कम देखता है और अतीतजीवी हो जाता है।

इस नक्शे में जयप्रकाश नारायण नहीं आते। वे तो मन से युवा थे। उम्र उनके आड़े नहीं आई। आखिर मन का ही तो सारा खेल है। उसी से क्रांति की आग जलती और बुझती है। बिहार आंदोलन के दिनों में उनका तन अवश्य जर्जर था। व्याधियों ने शरीर को अपना घर बना लिया था। उनका पारिवारिक जीवन भी तब गहरे अवसाद से होकर गुजरा था। उनकी पत्नी प्रभावती लंबी बीमारी के बाद परलोक सिंघार गई थीं। उनके निधन से जयप्रकाश नारायण के जीवन में जो खालीपन आ गया था, वह उनको सक्रिय बनाए रखने में बड़ी बाधा बन सकता था। किसी भी छोटी-बड़ी बाधा की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। इसकी भी वे क्यों करते। जो कभी लोभ और लालच में नहीं पड़ा, जो राग और द्वेष से दूर रहा, उस निर्मल मन के जयप्रकाश नारायण को लोगों ने जितना सम्मान दिया उसका उदाहरण मिलना मुश्किल है। ऐसे जयप्रकाश नारायण को लोकनायक की जो पदवी मिली, उसके वे पूरी तरह हकदार थे। वह उपाधि किसी सरकार ने उन्हें नहीं दी। लोगों ने दी। वही अमिट होता है, क्योंकि वह लोगों के दिल की गहराइयों से निकलता है। असली सम्मान तो वही है। ऐसा ही होता है जब कोई नायक लोगों के मन को छू लेता है। नाम-धाम पीछे छूट जाते हैं और कीर्ति का आभामंडल बन जाता है। आजादी की लड़ाई में सुभाष चंद्र बोस को 'नेताजी' की उपाधि लोगों ने ही दी। अरविंद घोष एक जमाने में क्रांतिकारी थे। जब वे साधना की ओर मुड़े और राजनीति से नाता तोड़ा तो उन्हें महर्षि अरविंद माना गया। इन महापुरुषों का कर्म ही उनका दूसरा नाम हो गया। ऐसे उदाहरण इने-गिने ही हैं।

जयप्रकाश नारायण का जीवन एक नायक की चरित कथा है। उसमें सब कुछ है, जो एक मर्मस्पर्शी उपन्यास के साहसी और सूझबूझ वाले नायक पात्र में होता है। कथा का विकास क्रम जैसे-जैसे रूप लेता है, यह जानने की उत्सुकता बनी रहती है कि अब क्या होगा। यह उत्सुकता सतही नहीं, गहरे उतरती जाती है। जयप्रकाश नारायण की जिंदगी को इस तरह भी देखा जा सकता है। कुछ लोग जब पीछे मुड़कर उन्हें देखते हैं तो बरबस महात्मा गांधी को याद करते हैं, इसलिए कि दोनों में कहीं समानता मिलती है और कहीं फर्क भी नजर आता है। इस मायने में दोनों एक जैसे थे, क्योंकि वे राजनीति में नैतिकता को सबसे ऊँचा दर्जा देते थे। वे अलग-अलग रास्ते से एक ही मंजिल पर पहुँचे थे। जेपी मार्क्सवादी भी थे। मार्क्सवाद पर उनकी दुविधा बढ़ी। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो दुविधा में डूब जाते हैं। उन्हें उबरना नहीं आता। जयप्रकाश नारायण उबरना जानते थे। यह तो कोई नहीं कहेगा कि जिंदगी में जयप्रकाश नारायण कभी दुविधाग्रस्त नहीं हुए। अवश्य हुए और बार-बार हुए, पर उसका उन्होंने रास्ता निकाला। अपनी साफ समझ और सीधे लक्ष्य से वे संचालित

होते रहे। गाँधी की तरह जयप्रकाश नारायण भी प्रयोगधर्मी थे। वे अन्वेषण, अनुभव और उससे निकले नतीजों से अपने फैसले करते थे।

एक बड़ा समुदाय है, जो जयप्रकाश नारायण की तुलना नेहरू से करता है। इन दोनों में मित्रता का भाव था। एक जमाने में विचारों में समानता थी। जब जवाहरलाल नेहरू अपनी कीर्ति के शिखर पर थे तो उनके बराबर दूसरा नाम जिनका हो गया था, वे जयप्रकाश नारायण थे। एक फर्क भी था, नेहरू ने लंदन में पढ़ाई की थी। जयप्रकाश नारायण ने वहाँ जाना भी मुनासिब नहीं समझा, क्योंकि वहाँ पढ़ना गुलामी को मन में कबूल करने जैसा था। जयप्रकाश नारायण ने अपनी पढ़ाई के लिए अमेरिका को चुना। पढ़ाई के साथ खर्च के लिए कुछ कमाई भी की। जो काम उन्हें मिला, वे करते रहे और पढ़ते रहे। इस तरह जयप्रकाश नारायण ने खुद को खोजा और अपने को गढ़ने के लिए परिस्थितियों के हवाले नहीं हो गए। परिस्थितियों को अपने हिसाब से उन्होंने बदला, मोड़ा और संचालित किया।

जयप्रकाश नारायण गाँव में जन्मे थे। गाँव की विशेषताओं की छाप उनके जीवन पर पड़ी और बनी रही। वह गाँव है सिताबदियारा, जो कभी सारण जिले में होता था। अब वह छपरा जिला हो गया है। सरयू और गंगा के कटान वाली जमीन पर किसी जमाने में सिताब राय ने यह गाँव बसाया, जो कई टोले में है। कटान हर साल होती है। इस कारण टोले उजड़ते-बसते हैं। सिताबदियारा का भूगोल कटान से तय होता है। इतिहास अपनी जगह कायम है। जयप्रकाश नारायण के जन्म से उसका इतिहास चमका और अमर हुआ। नदियों की कटान ने उनके घर को भी बहा दिया। इसके बाद उन्होंने अपना जो घर बनवाया, वह बलिया में पड़ता है। हरसू दयाल और फूलरानी की चौथा संतान थे, जयप्रकाश नारायण। अपनी माँ के स्वभाव को उन्होंने ज्यादा अपनाया। उसी से उनके मन की बनावट का साँचा बना, जिसमें रंग भरते रहे। उनके घर का नाम बउल रहा। जिसका मतलब होता है, बिना दाँत का। इसका एक किस्सा है। उनको दूध के दाँत देर से निकले। आम तौर पर सालभर होते-होते बच्चों के दाँत आ जाते हैं। जयप्रकाश नारायण पाँचवें साल में दाँत वाले बने। तब तक उनका नाम बउल पड़ गया था। उनका स्वभाव बचपन से ही धीर और गंभीर इतना था कि लोग उन्हें बूढ़ा लड़का कहते थे। वह लड़का अपनी उम्र के छोटे पायदान पर जब पहुँचा तो गाँव की पाठशाला में पढ़ाई शुरू हुई। शुरू से ही वे मेधावी छात्र थे। छोटे दर्जे तक उन्होंने अपने गाँव की पाठशाला में पढ़ाई की।

उसके बाद वे पढ़ने की लिए पटना गए। गाँव से शहर की वह उनकी पहली यात्रा थी। कहते हैं कि वे अपने दादा देवकीनंदन लाल के साथ गए थे। वह यात्रा बैलगाड़ी से पूरी की गई। वही उस समय आवागमन का साधन था। पटना के

कॉलिजिएट स्कूल में सातवीं कक्षा में दाखिला लेकर वे सरस्वती भवन में रहने लगे, जो एक छात्रावास था। उसका अपना एक उज्जल इतिहास है। उस छात्रावास से निकले छात्र जहाँ-जहाँ गए वहाँ छा गए। जयप्रकाश नारायण उनमें से एक थे। कॉलिजिएट स्कूल के अध्यापकों ने जयप्रकाश नारायण को इतना प्रभावित किया कि आजीवन वे प्रसंग आने पर याद करते थे। इसके लिए उनके मन में कृतज्ञता का भाव था। वहीं उनकी जीवन दृष्टि ने स्वरूप पाया।

राष्ट्रीयता के उभार का वह दौर था। उसकी जमीन स्वाधीनता संग्राम की घटनाओं से बन रही थी। उनके प्रभाव से जयप्रकाश नारायण सरीखा संवेदनशील युवा अछूता कैसे रह सकता था! इन्हीं घटनाओं के प्रभाव में वे मुक्ति संग्राम से जुड़े। जयप्रकाश नारायण जब स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों की यह बात है। उनका परिचय एक क्रांतिकारी से हुआ। बंगाल तब क्रांतिकारी बनने लगा था। कांग्रेस की राजनीतिक रीति-नीति से जो युवा असहमत थे और सक्रिय प्रतिरोध को जरूरी मानते थे वे क्रांति की राह पर चल पड़े थे। उनमें से ही एक क्रांतिकारी ने जयप्रकाश नारायण को दीक्षा दी। उसका ही प्रभाव था कि जयप्रकाश नारायण ने गीता का पाठ शुरू कर दिया। इसलिए नहीं कि उनको धर्म का मर्म जानना था, बल्कि वे क्रांति का मर्म समझना चाहते थे। इस जिज्ञासा से वे गीता की ओर मुड़े। हर मुक्ति संग्राम महाभारत होता है, जिसे समझने के लिए मूल महाभारत के कुरुक्षेत्र में गए गए श्रीकृष्ण के गीत को उसी तरह सुनना पड़ता है जैसे अर्जुन ने सुना था। जयप्रकाश नारायण ने तब यही किया। यह सब करते हुए उन्होंने अपनी पढ़ाई का पूरा खयाल रखा। इसका एक मतलब बहुत साफ है कि तब जयप्रकाश नारायण का व्यक्तित्व समन्वय और संतुलन के दो मजबूत पायों पर बन रहा था। वे एकांगी नहीं थे। उन्हें कब क्या करना है इसका पूरा खयाल रहता था। अलबत्ता, पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अलावा दूसरी पुस्तकें भी उनकी पढ़ाई में आ गई। इससे उनके ज्ञान का क्षितिज बढ़ा। क्रांतिकर्म की वह बौद्धिक तैयारी थी। उन्होंने इसके लिए अंग्रेजी साहित्य के अलावा उन पुस्तकों को भी पढ़ा जो देश-समाज की सही समझ दे रही थी। 'देश की बात' उनमें से एक थी। उसे अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंधित कर रखा था। सखाराम गणेश देउस्कर की यह पुस्तक बंगभंग आंदोलन के प्रतिरोध का अस्त्र बनी। उसे प्रतिबंध के बावजूद बेहद लोकप्रियता मिली। लोगों ने पढ़ा और अंग्रेजों को उखाड़ने का इरादा पक्का किया। ऐसा था चमत्कार इस पुस्तक का। इसमें भारत के शोषण का चित्रवत तथ्यपरक वर्णन है। ऐसी पुस्तक दादा भाई नौरोजी ने भी लिखी थी। लेकिन 'देश की बात' स्वाधीनता राष्ट्रीयता और स्वदेशी का ब्रांड बन गई। इसे जयप्रकाश नारायण ने पढ़ा और गुना। उसे आत्मसात् किया। वह पुस्तक राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाती थी।

उस समय घटनाओं का चक्र तेजी से घूम रहा था। पहला विश्वयुद्ध खत्म हो गया था। लेकिन, अंग्रेजों ने अपना वादा नहीं निभाया। युद्ध काल में जो कानून उसके बहाने बनाए गए थे, वे बरकरार रखे जा रहे थे, जिससे उनका शिकंजा जनजीवन पर यथावत रहे। देश की राजनीति में महात्मा गाँधी अपनी जगह बना रहे थे। वे देश भ्रमण पर थे। अंग्रेजी कानूनों का लोग प्रतिरोध करने लगे थे। रौलट कानून उनमें से एक था, जिससे लोगों की बोलने की आजादी खत्म होती थी। अभिव्यक्ति के दूसरे माध्यमों पर रोक थी। उसमें अखबार भी थे। सेंट्रल असेम्बली के अधिकार बहुत सीमित कर दिए गए थे। ऐसे ही माहौल में दमन का विरोध करनेवालों पर जलियाँवाला बाग में अमानवीय अत्याचार हुआ, जिससे पूरा देश दहल गया। 'जलियाँवाला बाग कांड' नाम से वह जाना गया। महात्मा गाँधी ने उस अवसर को अपनी पारखी नजर से देखा और असहयोग आंदोलन को शुरू करने के लिए वे यात्रा पर निकल पड़े। वे जब पटना आए तो जयप्रकाश नारायण उन्हें सुनने सभा में गए। वहाँ पहली बार गाँधी को देखा और सुना। यह 1920 की बात है।

बारहवीं कक्षा की परीक्षा नजदीक थी। थोड़े ही दिन रह गए थे। जयप्रकाश नारायण उसकी तैयारियों में लगे थे कि मालूम हुआ कि मौलाना अबुल कलाम आजाद और जवाहरलाल नेहरू की सभा होगी। वह सभा हुई। जयप्रकाश नारायण उन्हें सुनने गए। उन पर मौलाना आजाद के भाषण का बड़ा असर हुआ। आजाद ने छात्रों से अपनी पढ़ाई छोड़ संघर्ष में कूदने की पुरजोर अपील की। मौलाना अबुल कलाम उस समय सिर्फ 33 साल के थे। लेकिन मशहूर हो चुके थे। इसके कई कारण थे। उनका नजरिया राष्ट्रवादी था। बंगाल के एक संभ्रांत परिवार से उनका नाता था। उन्होंने कठमुल्लेपन को त्याग दिया था। इस कारण भी उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैली हुई थी। वे ओजस्वी वक्ता थे। जवाहरलाल नेहरू के मुकाबले उनके भाषण की अपील अधिक थी। उन्होंने महात्मा गाँधी का संदेश सीधे छात्रों के गले उतारा और कहा कि अंग्रेजों की शिक्षा उनके साम्राज्य को टिकाए रखने के लिए है। मौलाना आजाद ने छात्रों को ललकारा और कहा—“कुछ विद्यार्थी यह सोचते हैं कि एक बार परीक्षा दें और फिर कॉलेज छोड़ दें। यह कितनी वाहियात बात है। एक आदमी संख्या की डली चूस रहा है। अगर हम उससे कहते हैं कि तुम जहर पी रहे हो, क्या वह यह कहेगा कि जब तक आप इसके बदले में मुझे मीठे दूध का गिलास नहीं देंगे, तब तक मैं इस जहर को चूसना बंद नहीं करूँगा। जब तक आपको अमृत नहीं मिलेगा, क्या आप जहर चूसते रहेंगे? अंग्रेजों की चलाई पढ़ाई तो हमें गुलाम बनानेवाली पढ़ाई है। हमारे देश के लिए तो यह जहर के बराबर है। यह पढ़ाई हमें गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहती है। इसे तो फौरन छोड़ देना चाहिए।” इसमें उन लोगों को जवाब भी था,

जो स्कूल-कॉलेज छोड़ने के विरोध में तर्क दे रहे थे। आजाद के भाषण से छात्रों को स्कूल-कॉलेज छोड़ने की प्रेरणा मिली। पटना कॉलेज के ज्यादातर छात्रों ने पढ़ाई छोड़ दी। भावना की तीव्रता और स्वाधीनता की वह ललक ही थी, जो भविष्य में भी जेपी में समय-समय पर प्रकट होती रही।

इस घटना को जेपी ने यूँ याद किया है—‘उन दिनों मैं भी उन हजारों नौजवानों में शामिल था, जो पत्तों की तरह आँधियों में रहना चाहते थे, जो वेग से उड़ना चाहते थे और आकाश चूमने की तमन्ना रखते थे। उस समय हवा में उड़ने के इस महान विचार के छोटे अनुभव ने उनके मन में गहरी छाप छोड़ी, जिसे वास्तविकता की कुरुपता भी नहीं मिटा सकी। वह भावना थी जिसके वशीभूत होकर जयप्रकाश नारायण ने अपने पिता को आखिरकार सूचित कर दिया कि अपनी पढ़ाई छोड़ रहे हैं। उनके पिता ऐसा नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि इम्तिहान वे जरूर दें। लेकिन जयप्रकाश नारायण ने अपना इरादा नहीं बदला। वे गाँधी की राह पर चल पड़े। चरखे से सूत कातना और खादी बुनने की विधि सीखने लगे। वे बारहवीं के इम्तिहान में बैठे, लेकिन बिहार विद्यापीठ से, जो उन छात्रों के लिए बनाया गया था जिन्होंने सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर दिया था। सोच-विचार शुरू हुआ कि उनकी पढ़ाई आगे कैसे चले और कहाँ पर। उनके पिता और ससुर की स्वाभाविक इच्छा थी कि वे अपनी पढ़ाई पूरी करें। अगर देश में संभव न हो तो विदेश जाकर पढ़ना ठीक रहेगा। इसके साथ ही पढ़ाई के खर्च का भी सवाल था।

जयप्रकाश नारायण ने अपने पढ़ाई के लिए अमेरिका को चुना। इसकी प्रेरणा उन्हें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक से मिली। उनसे ही यह पता चला कि वहाँ पढ़ते हुए अपनी पढ़ाई का खर्च कुछ काम-धंधा कर आसानी से निकाला जा सकता था। उस समय मध्यवर्ग में लंदन की पढ़ाई के संबंध में जितनी जानकारी होती थी, उतनी अमेरिका के बारे में नहीं थी। जयप्रकाश नारायण का परिवार ऐसी स्थिति में नहीं था कि वह अमेरिका में पढ़ाई का खर्च उठा सके। ऐसी स्थिति में एक अनिश्चितता रहती है। वह उनके साथ भी थी। समस्या दोहरी थी। खर्च के अलावा माता-पिता और पत्नी की सहमति का सवाल था। जब उन्होंने अपनी पत्नी प्रभावती से चर्चा की तो उनकी आशंका निराधार निकली। प्रभावती ने छूटते ही कहा कि पढ़ाई के लिए वहाँ जाने में कोई अड़चन उनकी ओर से नहीं है। इससे उन्हें हरी झंडी मिली। अब यात्रा के खर्च वगैरह की बात थी। उसका इंतजाम कर वे निकले। उस समय पानी के जहाज से यात्रा होती थी। 1922 में वे अमेरिका पहुँचे। वहाँ सात साल रहे और पाँच विश्वविद्यालयों में पढ़ाई की। कुछ ज्यादा समय लगा, क्योंकि खर्च जुटाने के लिए इधर-उधर जहाँ काम की तलाश करनी पड़ी थी, वहीं कम खर्चवाले विश्वविद्यालय

खोजने में वक्त लगता था। वहाँ वे मेधावी छात्र गिने जाते थे। पी-एच.डी. में रजिस्ट्रेशन कराने की योजना में थे कि माता की अस्वस्थता के बारे में खबर लगी। वे लौट आए। अमेरिका में ही वे मार्क्सवाद के प्रभाव में आए। इस पर विवाद है कि वे वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने या नहीं। सबसे पहले वे अपने गाँव गए। माँ को देखा। उनके लिए वहाँ पूजा-पाठ रखा गया था। मार्क्सवादी जयप्रकाश उसमें शामिल हुए। उनके स्वभाव का यह लचीलापन था। उन्हें यह कला आती थी कि अपने विश्वास पर कायम रहते हुए दूसरे की श्रद्धा को भरसक ठेस न पहुँचाएँ। गाँव वालों ने उन्हें गले लगाया। स्नेह की सरयू बहाई, जो कि उनके जीवन-भर बनी रही। गाँव में ही पता चला कि बिहार प्रदेश कांग्रेस का अविध्वेशन मुंगेर में है। कांग्रेस नेताओं को सुनने और जानने का अवसर मिलेगा, यह सोचकर वे वहाँ गए। किसी राजनीतिक सम्मेलन में वे पहली बार सम्मिलित हुए।

उनके पास अमेरिका से अर्जित ऊँची शिक्षा की डिग्री थी। बिहार के नामी वकील ब्रजकिशोर बाबू से दामाद-ससुर का रिश्ता था। जानी-मानी हस्तियों से संबंध था। उन्हें देश के किसी भी विश्वविद्यालय में अध्यापन का अवसर मिल सकता था। उनको और परिवारवालों को पैसे की जरूरत भी थी। वे अध्यापक बनने के आसान रास्ते पर नहीं चले। कंकड़-पत्थरवाला अनजान और खतरों से भरा कठिन मार्ग चुना। यह उनकी फितरत बनी, जो हमेशा बनी रही। वे थे मार्क्सवादी पर राजनीति में कांग्रेस को चुना। इसकी एक वजह मार्क्सवादी छाप कम्युनिस्टों की कथनी और करनी में लंबी-चौड़ी खाई रही होगी। उस समय मार्क्सवादी मास्को की लाइन पर चलते हुए आजादी के आंदोलन से दगाबाजी कर रहे थे। जयप्रकाश नारायण को इससे सदमा पहुँचा था। वे बिहार प्रदेश, कांग्रेस के मुंगेर सम्मेलन से जब पटना आए तो प्रभावती से उनका पुनः मिलन हुआ। वे महात्मा गाँधी के आश्रम से जयप्रकाश नारायण की अगवानी करने ही आई थीं।

वे कांग्रेस में सक्रिय हुए उस समय पार्टी पूरी तरह बदल गई थी। प्रस्ताव पारित करने और ज्ञापन देनेवाली कांग्रेस संघर्ष के लिए तैयार हो रही थी। सविनय अवज्ञा आंदोलन की पुकार फैल गई थी। गाँधी और नेहरू जेल में थे। अंग्रेजी सरकार का दमन-चक्र तेज हो रहा था। इस बीच ब्रिटेन की इंडिया लीग ने मिस एलेन विकिंसन की अगुवाई में एक प्रतिनिधि मंडल दमन की जाँच के लिए भेजा। कहीं ऐसा न हो कि जाँच दल को अत्याचार के सबूत ही न मिलें, यही सोचकर जयप्रकाश नारायण ने अपने संपर्कों से सबूत जुटाए और प्रतिनिधि मंडल को देने के लिए मुंबई गए। पुलिस उनका पीछा कर रही थी, पर बच निकले। वे प्रतिनिधि मंडल के साथ मद्रास गए, जहाँ गिरफ्तारी से बच नहीं सके। यह उनकी पहली गिरफ्तारी थी। तक फ्री प्रेस जर्नल

अखबार ने छापा-कांग्रेस ब्रेन अरेस्टेड (कांग्रेस का दिमाग गिरफ्तार)। उस गिरफ्तारी से जयप्रकाश नारायण को कांग्रेस नेतृत्व का वह लाइसेंस मिला, जो जनता में त्याग, बलिदान का पर्याय माना जाता था। उस लाइसेंस को वे समय-समय पर नया कराते रहे। वह घटना 1932 की है। अंग्रेजों ने उन्हें मद्रास से नासिक भेजा। शासन की सोच जो भी रही हो, उनकी जिंदगी में नासिक जेल ने नया अध्याय जोड़ा। वह एक ऐतिहासिक मोड़ था। जेल में उन्हें हमउम्र और हमराही मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, एनजी गोरे, एमएल दाँतवाला और यूसुफ मेहरअली मिले। यह जमात क्रांति के वैचारिक जज्बे से भरी-पूरी थी। उसका एक सपना था कि कांग्रेस को समाजवाद का औजार बनाया जाए। इस जमात के लोग इस पर सोचते थे, विचार करते थे और आपस में बहस करते थे। उसी से निकला वह इरादा, जिसे जेल से निकलने के बाद जयप्रकाश नारायण ने अपनी पहल से साकार किया। उस जमात को दो बातें नापसंद थीं। सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करना और भगत सिंह को दी गयी फाँसी की सजा।

जेल से बाहर आने पर जैसे ही उन्हें बिहार के भूकंप राहत काम से फुरसत मिली, वे अपने सोचे हुए एजेंडे को पूरा करने में जुट गए। पटना में एक सम्मेलन कांग्रेस के मुंबई अधिवेशन से एक दिन पहले किया गया। उसमें सभी युवा और दिग्गज समाजवादी आए। उससे कांग्रेस में एक दबाव समूह बना, जो समाजवाद के विचार से प्रेरित था और संघर्ष करने के लिए उतावला था। पार्टी बनाकर ही जयप्रकाश नारायण नहीं रुके। उन्होंने वैचारिक खुराक भी दी। एक पुस्तिका लिखी—समाजवाद ही क्यों? वह विचारों में कितनी आकर्षक, तर्कपूर्ण और समृद्ध थी, इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि ईएमएस नम्बूदरीपाद उसे ही पढ़कर समाजवादी बने, जो बाद में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सालों महासचिव रहे। उस पुस्तिका ने आजादी के आंदोलन को गाँधीजी से भिन्न स्तर पर विचार भूमि दी। जब उस पर विवाद छिड़ा और शासन ने जयप्रकाश नारायण को निशाना बनाया तो बचाव में महात्मा गाँधी ने कहा कि समाजवाद के बारे में जयप्रकाश नारायण जो नहीं जानते इस देश में दूसरा कोई नहीं जानता। यह असाधारण-सी बात थी। देश को पूरी तरह आजाद कराने के लिए जो गाँधीवाद से भिन्न सोचते थे, उन्हें जयप्रकाश नारायण ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के झंडे तले इकट्ठा किया। महात्मा गाँधी उनसे अलग मत रखते थे। इसे वे बता चुके थे। फिर भी जयप्रकाश नारायण को उन्होंने यह सर्टिफिकेट दिया। यह संयोग भी हो सकता है कि जिस समय कांग्रेस समाजवादी पार्टी बनी, उसी के आस-पास महात्मा गाँधी ने कांग्रेस की सदस्यता छोड़ी। उससे औपचारिक नाता तोड़ लिया। लेकिन उन्होंने कांग्रेस समाजवादी पार्टी के गठन का स्वागत किया। साथ ही साथ यह बताना जरूरी समझा कि 'उससे मेरा बुनियादी मतभेद है।'

1935 का कानून बनाया ही इसलिए गया था कि स्वाधीनता संग्राम को संसदीय राजनीति के परनाले में बहा दिया जाए। उस मोड़ पर सिर्फ दो आवाजें भिन्न थीं, महात्मा गाँधी और जयप्रकाश नारायण की। उनकी कांग्रेस नेतृत्व से वैचारिक असहमति की शुरुआत तभी हुई। दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर वह मतभेद खुलकर सामने आया। बड़े नेता अंग्रेजों से सौदेबाजी करना चाहते थे। बदले में आधी-अधूरी आजादी मिलती है तो उसे पाने की इच्छा रखते थे। इसके विपरीत जयप्रकाश नारायण ने गाँधी के स्वर में अपना स्वर मिलाया और ऊँचे पायदान से आवाज दी कि ब्रिटिश हुकूमत को लोग मदद देना बंद कर दें, क्योंकि विश्वयुद्ध साम्राज्यवादी है। इससे बौखलाई अंग्रेजी सरकार ने जयप्रकाश नारायण को राजद्रोह में जेल भेज दिया। वे नौ महीने बाद छूटे ही थे कि फिर गिरफ्तार कर लिए गए। अंग्रेजी हुकूमत उनसे इस कदर खौफ खाती थी कि उन्हें आर्थर जेल रोड से जल्दी ही राजस्थान के एक गुप्तनाम गाँव में बनाए गए यातना शिविर में भेज दिया। वह बाद में देवली जेल के रूप में इसी कारण मशहूर हुआ, क्योंकि जयप्रकाश नारायण ने वहाँ पहुँचकर राजनीतिक बंदियों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार के खिलाफ आवाज उठाई। पहले शिकायत की। जब उस पर कोई सुनवाई नहीं हुई तो आमरण अनशन पर बैठ गए। मतलब कि जान की बाजी लगा दी। अनशन के दस दिन बाद उन्होंने महात्मा गाँधी को पत्र लिखा कि वे यहाँ के हालात का खुद जायजा लें। महात्मा गाँधी ने पत्र मिलते ही अपने निजी सचिव महादेव भाई देसाई को भेजा। उनकी रिपोर्ट पर भारत सरकार को लिखा और पूरे देश में जनमत को जगाया। इसका यह परिणाम हुआ कि वह जेल बंद कर दी गई। उसके कैदी अपने-अपने राज्यों में भेज दिए गए। जयप्रकाश नारायण को हजारीबाग सेंट्रल जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। वे हजारीबाग पहुँचे। उनके लिए हजारीबाग का स्थानांतरण अपने घर और परिवेश में वापसी जैसा था। उनके साथ-साथ देवली की विजय गाथा भी चल रही थी।

वह वक्त जेल में कैद हो जाने का नहीं था। जब देश और दुनिया में दूसरे महायुद्ध का निर्णायक हलचलें बढ़ रही हों और स्वाधीनता संग्राम अपने मुकाम पर पहुँचनेवाला हो, उस समय जयप्रकाश नारायण बंदी बने रहें, यह कहाँ संभव था। हजारीबाग पहुँचते ही उन्होंने अपने चुनिंदा साथियों से मशविरा किया और इसकी तजवीज करने लगे कि कैसे जेल की दीवार लाँची जा सकती है। अगस्त क्रांति की आग ठंडी पड़ रही थी। उस समय उनकी तड़प बढ़ती जा रही थी। उसमें ही यह तय हुआ कि दीवाली की रात वह समय सही होगा, जब जश्न के शोर-शराबे में जेल से पार जाया जा सकता है। उसकी थोड़ी रिहर्सल भी हुई। दीवाली की तारीख थी 8 नवंबर, 1942। जेल की 70 फुट ऊँची दीवार को पार करने में जयप्रकाश नारायण

और उनके पाँच साथियों को छह मिनट भी नहीं लगे। वह टोली जेल से आजाद हो गई। लेकिन दो मोर्चे भी खुल गए। जेल में और उससे बाहर। जेल अधिकारियों को सूरज निकलने के बहुत बाद तब पता चला, जब जयप्रकाश नारायण को जेल अधीक्षक ने किसी कागज पर दस्तखत करने के लिए बुलवाया। जब वे अपनी कोठरी में नहीं पाए गए तब पूरी जेल में हड़कंप मचा, उसके बाद पगली घंटी बजाई गई। वह इस बात की सूचना होती है कि जेल में कोई इमरजेंसी आ गई है। तब तक बहुत देर हो चुकी थी। फरार कैदी बहुत दूर निकल चुके थे। हजारीबाग का जंगल पार कर वे गया के एक गाँव में दाखिल हो गए थे। छिपते-छिपाते जयप्रकाश नारायण बनारस पहुँचे। वहाँ से अगस्त क्रांति की कमान सँभाली। ज्यादातर बड़े नेता जेलों में थे। जयप्रकाश नारायण ही उस वक्त लड़ाकुओं और सरकार दोनों की निगाह में आजादी के आंदोलन के सबसे बड़े नायक थे। जेल से निकलने की खबर आग की तरह फैली हुई थी। उनके इस पराक्रम पर डा. रामधारी सिंह दिनकर ने बाद में लिखा—‘कहते हैं इसको जयप्रकाश जो नहीं मरण से डरता है, ज्वाला को बुझते देख कुंड में, स्वयं कूद जो पड़ता है।’ बनारस पहुँचकर जयप्रकाश नारायण जल्दी से दिल्ली के लिए रवाना हो गए। पुलिस उन्हें ढूँढ़ रही थी। वे भूमिगत जीवन जीते हुए यात्रा पर निकल पड़े।

हजारीबाग जेल से निकलने के दस महीने बाद जब वे फिर बंदी बनाए गए, तब तारीख थी—18 सितंबर, 1943। इन दस महीनों में वे देशभर में वेष बदलकर क्रांति की अलख जगाते रहे। छापामार दस्ते गठित किए। नेपाल में ट्रेनिंग कैंप बनाया। पकड़े जाने पर अंग्रेजों ने उन्हें लाहौर जेल की एक काल कोठरी में रखा। इस बार उन्हें कदम-कदम पर यातना दी जा रही थी। काल कोठरी में महीने-भर रखा गया, ताकि जयप्रकाश नारायण अवसाद में चले जाएँ। महीने भर बाद उनसे पूछताछ शुरू हुई। वही सवाल बार-बार तरह-तरह पूछे जाते रहे कि हजारीबाग जेल से कैसे भागे और बाहर आकर क्या-क्या किया। पहले पूछताछ कुछ घंटे चली और बाद में तो उसका क्रम दिन-रात में बदल गया। लेकिन जयप्रकाश नारायण ने उन अफसरोں को निराश कर दिया। वे साफ-साफ कहते रहे कि मैं अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने के लिए संकल्पबद्ध हूँ। आप लोग जो पूछ रहे हैं, वह मुझे मालूम है, पर बताऊंगा नहीं। सरकार की निगाह में सबसे खतरनाक कैदी जयप्रकाश नारायण थे। इस कारण उन्हें जेल में ही सड़ाया जा रहा था, जबकि दूसरे राजनीतिक बंदी रिहा किए जाने लगे थे। महात्मा गाँधी ने हस्तक्षेप किया। उन्होंने वायसराय से अपील की। इस पर वायसराय वाबेल ने अपनी डायरी में लिखा—‘गाँधी अभी जयप्रकाश को छोड़ने की बात पकड़कर बैठे हैं। हमें लगता है कि उनमें एक की बढ़ोतरी से ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। सिवाय

इसके कि जयप्रकाश एक बुद्धिमान और समझदार दुष्ट है।' आखिरकार 11 अप्रैल, 1946 को जयप्रकाश नारायण आगरा जेल से रिहा कर दिए गए।

इंतजार की घड़ियाँ खत्म हुई। लोग आतुरता से उस जयप्रकाश को देखना और अपना आदर देना चाहते थे, जो अगस्त क्रांति में उनके दिलों पर राज कर रहा था। वे रिहा होकर दिल्ली आए। स्टेशन पर प्रभावती उनकी अगवानी में थीं और उनके पीछे आजादी के दीवानों की भारी भीड़ थी। स्वाभाविक था कि जयप्रकाश नारायण और प्रभावती पटना पहुँचे। वहाँ लोग बेसब्री से स्वागत सम्मान करने के लिए उनकी बाट जोह रहे थे। 21 अप्रैल, 1946 का दिन पटना की याद में अमिट है। गाँधी मैदान में अपार जनसमूह आया। जयप्रकाश नारायण का वहाँ भावपूर्ण अभिनंदन हुआ। सभा की अध्यक्षता डा. श्रीकृष्ण सिंह ने की। तब वे बिहार के प्रीमियर यानी प्रधानमंत्री थे। उसी सभा में रामधारी सिंह दिनकर ने जयप्रकाश नारायण पर जो कविता सुनाई वह इतिहास का शिलालेख बन गई। उसकी एक पंक्ति है—'अब जयप्रकाश है नाम देश की आतुर, हठी जवानी का।' जयप्रकाश नारायण न थके न हारे थे।

आजादी से पहले ही संविधान सभा बन गई थी। उसे अपनी योजना में अंग्रेजों ने ही बनाया था। जयप्रकाश नारायण उस संविधान सभा के खिलाफ थे, क्योंकि उसमें बालिग मताधिकार के आधार पर सदस्यों का निर्वाचन नहीं होना था। अंग्रेज जैसा चाहते थे वैसी व्यवस्था की और यह तय कर दिया कि कितने प्रतिनिधि किस समूह के होंगे। इससे असहमत जयप्रकाश नारायण ने कांग्रेस को समझाया कि इस संविधान सभा का बहिष्कार करना चाहिए। इसमें वे सफल नहीं हो सके। लेकिन समाजवादियों को संविधान सभा के बहिष्कार के लिए तैयार कर लिया। जब जवाहरलाल नेहरू ने प्रधानमंत्री के रूप में अपना निवास तीनमूर्ति को बनाया, तब उन्होंने उनको लिखा कि उन्हें यह शोभा नहीं देता। आजादी के वादे में सादगी का जीवन था। यह उससे दगाबाजी है।

जब महात्मा गाँधी के कथित राजनीतिक उत्तराधिकारी सत्ता के मद में चूर हो रहे थे, उस समय जयप्रकाश नारायण उपवास के जरिए आत्मशुद्धि का निश्चय कर उस पर अमल करने की कोशिश में थे। यह उनके लिए ऐसी तपस्या थी, जिससे उनका आत्म-रूपांतरण हो गया। जब उनका इक्कीस दिनों का उपवास पूरा हुआ तो प्रभावती जी ने कहा कि 'उनका पुनर्जन्म हुआ है।' उपवास के दौरान एक दिन अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर उनसे मिलने आए। सीधा सवाल पूछा—'आप क्या धार्मिक बन रहे हैं?' जयप्रकाश नारायण का जबाब था—'मैं ऐसी सभ्यता का निर्माण करना चाहता हूँ, जिसके आधार पर मनुष्य ऊँचा उठता जाए।' उस उपवास से कई बातें हुई। जयप्रकाश नारायण दलीय राजनीति से दूर होते चले गए। कई सालों तक

चली इस प्रक्रिया को 1957 में उन्होंने अपनी घोषणा से पूरा कर दिया। जब वे इस प्रक्रिया से गुजर रहे थे, तब दल में भी थे और दल के बाहर भी थे। उन दिनों वे प्रसोपा के नेता थे। सर्वोदय की तरफ झुकने लगे थे। विनोबा के भूदान में उन्हें क्रांति का उफान और तूफान नजर आ रहा था। इसीलिए अपने सहयोगियों, खासकर आचार्य जेबी कृपलानी को चौंकाते हुए उन्होंने अपने को भूदान का जीवनदानी घोषित कर दिया। उनके इन कार्यकलापों को समाजवादियों ने पसंद नहीं किया। लेकिन जयप्रकाश नारायण तो दूसरों के नहीं, अपने तर्कों से रास्ता चुनते थे। 'समाजवाद से सर्वोदय' पुस्तक में उन्होंने अपने मन को खोला है और अपने फैसलों के तर्क समझाए हैं। दलीय राजनीति की अंदरूनी खींचतान से उन्हें लगने लगा कि देश के नवनिर्माण का जो सपना उनका है, वह पूरा नहीं होगा। दलीय राजनीति सत्ता और वोट के दायरे में ही चलती रहेगी। उनको पुनर्विचार की जरूरत महसूस हुई। उस समय विनोबा नए अवतार में प्रकट हुए। इनके भूदान आंदोलन में जयप्रकाश नारायण को उम्मीद दिखी कि उससे समाज की पुनर्रचना संभव है।

जेपी ने सक्रिय दलीय राजनीति छोड़ी। राष्ट्रीय राजनीति को अपनाया। एक चरण बाद वे दलविहीन राजनीति के पुरोधा और प्रवक्ता बने। पर उनकी अपील बेअसर रही। वे अनेक मोर्चों पर छोटे-मोटे प्रयोग करते रहे। जैसे, चंबल के डाकूओं को गाँधी के रास्ते पर चलने के लिए फुसलाया और समझाया। उन्हें सफलता भी मिली। डाकूओं का आत्मसमर्पण इतिहास की स्मृति में हमेशा के लिए अंकित हो गई। एक नया इतिहास भी रचा जा सका। उस क्षेत्र में यह समस्या निर्मूल हो गई। उनका दूसरा चर्चित प्रयोग पूर्वोत्तर में रहा, जहाँ उपद्रव, अशांति और बगावत को दूर करने के लिए वे प्रयासरत दिखे। कुछ सफलता भी पाई। इसका उन्हें यश भी मिला। वही दौर है, जब जेपी कुछ प्रयोगों पर अपयश और विवाद के विषय बने। जैसे, कश्मीर के मसले पर।

उन्हीं दिनों युवा विद्रोह की विश्वव्यापी घटनाओं ने जेपी का ध्यान खींचा। उनकी यह एक विशेषता थी। वे परिवर्तन की आहट को सबसे पहले सुन पाते थे। क्रांति के विभिन्न वैचारिक यात्राओं से गुजरे जेपी को नए विचार ने अपनी ओर खींचा। उन्हें लगा कि युवा विद्रोह में परिवर्तन की वैचारिक संभावनाएँ अपार हैं, जिसे तब तक सिर्फ असंतोष और युवा उत्पात ही माना जाता था। जेपी ने उसे ऊँचे वैचारिक पायदान पर खड़ा पाया। भारतीय संदर्भ से उसको जोड़ा। भारत के छात्र आंदोलन पर उनका नजरिया बदला। वे निपट अकेले थे। प्रभावती जा चुकी थी। उस दौर में उन्हें युवा विद्रोह से विचार का नया रसायन मिला। एक अपील जारी की। शीर्षक था—यूथ फॉर डेमोक्रेसी। जेपी को अपनी अपील के असर पर बहुत भरोसा

नहीं था, पर असर हुआ। यह 1973 की बात है। वे अपनी उम्र के 72वें पड़ाव पर थे। उन्हीं दिनों स्वतंत्र रूप से छात्र संगठन भी परिवर्तन के विचार और संघर्ष की योजना बनाने में लगे थे। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद का संयोजन था। उस संयोजन से छात्र आंदोलन प्रारंभ हुआ, जो जल्दी ही जनआंदोलन बन गया। जब जन आंदोलन का रथ चल पड़ा तो जयप्रकाश नारायण उसके सारथी बने। कहना चाहिए कि उन्हें इसके लिए मनाया गया। उनके नेतृत्व से आंदोलन को नाम मिला। उसकी साख बनी। उसमें स्थिरता और निरंतरता जुड़ी। राजनीतिक दल, जनसंगठन और समाज के विभिन्न वर्गों, हित समूहों का व्यापक समर्थन मिला। इससे इंदिरा गाँधी की कथनी-करनी की पोल खुली।

वही समय है, जब रेलवे की देशव्यापी हड़ताल ने इंदिरा गाँधी को अपनी शासन व्यवस्था के गहरे संकट का एहसास कराया। कांग्रेस में कुछ नेता थे, जो उन्हें सलाह के जरिए सही पटरी पर लाना चाहते थे। वे युवा तर्क थे, जिनकी अगुवाई चंद्रशेखर कर रहे थे। उनकी सलाह को इंदिरा गाँधी ने अपनी लिए विरोधस्वरूप चुनौती माना। वे लोग चाहते थे कि इंदिरा गाँधी और जयप्रकाश नारायण में संवाद हो। अगर टकराव हो गया तो देश के लिए घातक हो सकता है। इंदिरा गाँधी ने बातचीत का ढोंग रचाया, लेकिन मंशा साफ नहीं थी। 1 नवंबर, 1974 को बातचीत हुई, जो तिकड़म और तिरस्कार के मिले-जुले पाग में पगी होने के कारण संबंधों के स्वाद को बिगाड़ गई। चलते-चलते इंदिरा गाँधी ने जयप्रकाश नारायण से कहा कि 'कुछ देश की भी सोचिए।' वे इस टिप्पणी से आहत हुए और जवाब दिया कि 'इंदु! देश के अलावा मैंने अब तक किया क्या है।'

उस भेंट ने टकराव का बीज बो दिया। इंदिरा गाँधी के सहयोगियों ने भी बातचीत टूटने को दुर्भाग्यपूर्ण माना। एक धारणा तो यह है कि वह अहं का टकराव था। पर था उससे ज्यादा, विचार का टकराव। उसी घटना ने राजनीतिक मोड़ लिया। आखिरकार अपनी कुर्सी बचाने के लिए इंदिरा गाँधी ने लोकतंत्र का गला घोंटा। उसकी हत्या की। देश पर इमरजेंसी थोपी। लोगों के मौलिक अधिकार छीन लिए। उस उम्र में भी जेपी को जेल में डाला। 25 जून, 1975 की रात जयप्रकाश नारायण को गाँधी शांति प्रतिष्ठान से जगाकर गिरफ्तार किया गया। लोगों की सुबह आँख खुली तो उन्होंने खुद को और देश को आपातकाल की जंजीरों में जकड़े देखा उन्हें अपने पर भरोसा नहीं रहा। बहरहाल, जयप्रकाश नारायण ने अपनी गिरफ्तारी पर इंदिरा गाँधी को संबोधित करते हुए कहा—'विनाशकाले विपरीत बुद्धि।'

जयप्रकाश नारायण को अपना सामान समेट कर जेल की तरफ बढ़ने में वक्त नहीं लगा। वे जैसे पहले से ही तैयार हों। संसद मार्ग थाने से वे सोहना रेस्ट हाउस

ले जाए गए। उन्हें क्रूर और संजय-भक्त वंशी लाल के हवाले कर दिया गया। कुछ दिनों बाद चंडीगढ़ में नजरबंदी में रखकर उनको मारने का पूरा इंतजाम था। अपने 73वें जन्मदिन पर उन्होंने लिखा कि 'ईश्वर मुझे सद्बुद्धि और सद्विच्छा दे, ताकि जो कुछ मेरे पास समय बचा हुआ है, उसमें देश और लोगों की सेवा कर सकूँ।' उन्होंने यह भी लिखा कि ईश्वर की सेवा करने का यही एक मात्र रास्ता मैं जानता हूँ। वहाँ उन पर दबाव डाला गया। जयप्रकाश नारायण को अंग्रेज जब नहीं झुका सके तो इंदिरा गाँधी की क्या बिसात! विश्व जनमत उनके साथ था। लिहाजा उन्हें मुंबई जसलोक अस्पताल भेजा गया, क्योंकि गुर्दे चंडीगढ़ में खराब हो गए थे। संदेह है कि उनको मारने के लिए भोजन में कुछ मिलाया जा रहा था। जसलोक अस्पताल में उनकी डायलिसिस हुई, जिससे वे बच सके। वहाँ रहते हुए जयप्रकाश नारायण ने अपने इलाज के साथ-साथ इमरजेंसी के भी इलाज का बंदोबस्त कराया। विपक्ष को एक करने में वे लगे रहे। इंदिरा गाँधी ने यह समझ कर चुनाव कराने की घोषणा कर दी कि विपक्ष बिखरा हुआ है। जनता डरी और सहमी हुई है। उम्मीदवार आसानी से पार्टियों को मिलेंगे नहीं और इसका लाभ उठाकर कांग्रेस जीत जाएगी। इसका मतलब होगा कि इंदिरा गाँधी दावा कर सकती हैं कि उनके फैसले पर जनता ने अपनी मुहर लगा दी। इस तरह, चुनाव की घोषणा 18 जनवरी, 1977 को की गई। तब इमरजेंसी लगी हुई थी। लेकिन इंदिरा गाँधी का दाँव उल्टा पड़ा। जगजीवन राम कांग्रेस से बाहर आए और उनके साथ हेमवन्ती नंदन बहुगुणा और नन्दिनी सतपथी ने मिलकर कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी बनाई। इससे लोगों को निर्भय होने में मदद मिली। चुनाव नतीजा आया तो उत्तर भारत में कांग्रेस बुरी तरह हार गई थी। इंदिरा गाँधी और उनके बेटे संजय गाँधी भी चुनाव हारे। यह जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व और नेतृत्व का चमत्कार था।

प्रधानमंत्री का पद जयप्रकाश नारायण के लिए बहुत मायने नहीं रखता था। उनकी इस पद में रुचि होती तो वे पहले भी वहाँ पहुँच सकते थे। इस बार तो वे प्रधानमंत्री बनानेवाले हो गए थे। उनकी सबसे बड़ी चिंता पद को लेकर नहीं थी, उस विश्वास की रक्षा के प्रति थी, जिसे जनता ने सौंपा था। उसकी रक्षा के लिए ही उन्होंने एक नए तरह का शपथ समारोह रखवाया। गाँधी समाधि पर 24 मार्च, 1977 को जयप्रकाश नारायण ने निर्वाचित सांसदों को शपथ दिलाई, जिसमें आचार्य जे.बी. कृपलानी, पंडित विजयलक्ष्मी सहित जनता पार्टी के सांसद थे। इसके बाद शुरू हुई प्रधानमंत्री पद के लिए उचित नेता की खोज। जनता पार्टी के शिखरनेता मोरारजी देसाई को जेपी ने प्रधानमंत्री बनवाया। सांसदों ने माना कि जयप्रकाश नारायण चाहते थे कि जनता सरकार का रंग-ढंग कांग्रेस से अलग हो। वह लोकसेवक जैसा काम करे,

लेकिन ऐसा हुआ नहीं। जल्दी ही उन्हें प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई को एक पत्र लिखकर अपनी चिंता प्रकट करनी पड़ी। उन्होंने लिखा कि शासन की नई पद्धति अपनाने का प्रयास नहीं हो रहा है। इस तरह बारी-बारी से उन्होंने जनता के हर महत्त्वपूर्ण नेता को वायदे की याद दिलाई। बजाय इसके कि वे अपना रंग-ढंग सुधारते, जनता पार्टी का शिखर नेतृत्व जल्दी ही कलह में फँस गया। इससे जयप्रकाश नारायण को बहुत मानसिक आघात लगा। उनकी सेहत सुधरने के बजाए बिगड़ी। वे अमेरिका गए इलाज के लिए और इस विश्वास से वापस लौटे कि लोकनीति और संपूर्ण क्रांति के लिए देश में घूमते हुए जनमत जगाएँगे, लेकिन ऐसा हो नहीं सका। जनता पार्टी से उन्हें गहरी निराशा मिली। वे अपने आत्मबल से राजनीतिक झंझावातों के बीच जीवित रह सके। शरीर के अवयव कमजोर पड़ते जा रहे थे। मार्च, 1979 में उनकी हालत बिगड़ गई। जहाज से उन्हें मुंबई में जसलोक अस्पताल पहुँचाया गया। 22 मार्च को जब उनको डायलिसिस के लिए ले जाया जा रहा था तो अफवाह फैल गई कि जयप्रकाश नारायण की मृत्यु हो गई है। रेडियो ने खबर दे दी। संसद में उनको श्रद्धांजलि दे दी गई। थोड़ी देर में भूल, जो हो गई थी, उसे सुधारा गया। मोरारजी देसाई ने क्षमा माँगी। उस बीमारी से जयप्रकाश नारायण निकलकर जुलाई में पटना पहुँचे। दो महीने भी नहीं बीते कि जनता पार्टी के बढ़ते झगड़ों ने उन्हें बेहाल कर दिया। उनकी तबीयत फिर बिगड़ी। इस बार वे इलाज के लिए कहीं भी जाने को तैयार नहीं हुए, हालाँकि इसका उनसे आग्रह किया जाता रहा। 7 अक्टूबर को उस साल रविवार था। उनके लिए वह छुट्टी का दिन था, क्योंकि साथी अच्युत पटवर्धन पटना उनको देखने आए। उनके सचिव सच्चिदानंद ने लिखा—‘जब मैं अच्युत को उनके बेडरूम में लेकर आया तो जेपी उठकर बैठने और अपने पुराने साथी का स्वागत करने की स्थिति में नहीं थे। अच्युत ने पूछा—जेपी आप कैसे हैं? जेपी ने जबाब दिया—मौत की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।’ अगले दिन सुबह वह प्रतीक्षा पूरी हो गई। अपने 77वें जन्मदिन से तीन दिन पहले ही उन्होंने देह त्याग दी। वे संपूर्ण क्रांति का अधूरा संसार छोड़कर चले गए। उनके विचार, राजनीतिक प्रयोग और देश के नवनिर्माण के सपने आज ज्यादा प्रासंगिक हो गए हैं।

श्री अरविन्द : राष्ट्रीयता के अग्रदूत

सुरेश चन्द्र त्यागी*

आधुनिक भारत के प्रज्ञा-पुरुष श्री अरविन्द का बहुआयामी व्यक्तित्व विस्मयकारी और प्रेरणाप्रद तो है ही, विरोधाभासी भी प्रतीत होता है। यूरोपीय सभ्यता में पालन-पोषण और भारतीय संस्कृति में आकंठ निमज्जन, सक्रिय क्रान्तिकारी गतिविधियाँ और आध्यात्मिकता की चरम उपलब्धियाँ विरोधाभासी लग सकती हैं, लेकिन यह जीवन की सर्वांगता का भी प्रमाण है। उनके व्यक्तित्व का कौन-सा आयाम दूसरे से छोटा-बड़ा है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। ऋषि, योगी, महाकवि, राजनीतिक चिन्तक, समाजशास्त्री, आलोचक, दार्शनिक, क्रान्तिकारी विचारक—ऐसा लगता है कि उनके व्यक्तित्व का प्रत्येक रूप एक उच्चतम शिखर है। इन्हीं विविध रूपों में एक है राष्ट्रवाद के उन्नायक का रूप। हमारा विचारणीय विषय यही है।

‘राष्ट्रीयता का अग्रदूत’ या ‘राष्ट्रवाद का पैगम्बर’ ये शब्द सुनते ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम का एक युग आँखों में तैर जाता है। अलीपुर बम केस भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन और विशेषतः क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। कलकत्ता में किंग्सफोर्ड था चीफ प्रेजीडेन्सी मजिस्ट्रेट। वह अपने क्रूर निर्णयों के कारण जाना जाता था। क्रान्तिकारियों का लक्ष्य था उसे समाप्त करना। इसकी भनक सरकार को थी। जिला जज बनाकर किंग्सफोर्ड को मुजफ्फरपुर भेज दिया गया, ताकि वह क्रान्तिकारियों की दृष्टि से दूर हो सके। तब क्रान्तिकारियों ने प्रफुल्ल चाकी और खुदीराम बोस को उसकी हत्या का दायित्व सौंपा। ये दोनों युवक मुजफ्फरपुर पहुँचे। वहाँ इन्होंने 10 अप्रैल, 1908 को किंग्सफोर्ड की गाड़ी समझकर उस पर आक्रमण किया, लेकिन उस गाड़ी में किंग्सफोर्ड नहीं था। भूल से दो महिलाओं की जान चली गयी। दोनों युवक पकड़े गए; प्रफुल्ल चाकी अपनी रिवाल्वर से स्वयं शहीद हो गया और खुदीराम बोस को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। इस केस में 37 लोगों पर मुकदमा

* श्री सुरेश चन्द्र त्यागी, सम्पादक : अदिति; रामजीवन नगर, चिलकाना रोड सहारनपुर 247001 (उ.प्र.); मो. 9927255438

चला, जिनमें श्री अरविन्द भी एक थे। मजिस्ट्रेट, सेशन, हाईकोर्ट अदालतों में कुल मिलाकर 274 दिन इस केस पर कार्यवाही चली, लगभग 4000 पृष्ठ के दस्तावेज प्रस्तुत किए गए और लगभग 400 सबूत पेश किए गए।

इस केस में देशबन्धु चित्तरंजन दास श्री अरविन्द के वकील थे। उन्होंने सारे सबूतों का विश्लेषण करके अपनी बहस का समापन करते हुए कहा था—“इस विवाद के शान्त हो जाने के बहुत समय बाद, इस हलचल, इस आन्दोलन के समाप्त हो चुकने के बहुत समय पश्चात् उनके (श्री अरविन्द) गुजर जाने के बहुत समय उपरान्त उनको देशभक्ति के कवि, राष्ट्रीयता के अग्रदूत और मानवता के प्रेमी के रूप में जाना जायेगा। उनकी मृत्यु के बहुत समय बाद भी उनके शब्द भारत में ही नहीं समुद्र पार सुदूर देशों में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते रहेंगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह महान् व्यक्ति केवल इस अदालत के कटघरे में नहीं, बल्कि इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खड़ा है।” लगता है कि देशबन्धु की वाणी में सरस्वती आ विराजी थी।

चौदह वर्ष विदेश में रहकर श्री अरविन्द 1893 में भारत लौटे। इसी वर्ष विवेकानन्द ने शिकागो में ‘पार्लियामेंट ऑफ रिलिजन्स’ में भाषण दिया था। श्री अरविन्द बड़ौदा में कार्यरत हुए। 1905 में बंग-बंग के साथ श्री अरविन्द का उदय राजनीतिक क्षितिज पर एक जाज्वल्यमान सूर्य के रूप में हुआ और 1910 में वह नाटकीय ढंग से एक नए क्षितिज की ओर चले गए। राजनैतिक क्षेत्र में इतनी अल्प अवधि—मात्र पाँच वर्ष—में कार्य कर इतनी ख्याति पाने का ऐसा दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है।

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं सदी भारत के पुनर्जागरण की शताब्दी है। समाज सुधार के महान् नेता और आन्दोलन इसी शताब्दी में दिखाई दिए। ब्रह्म समाज के राममोहन राय और देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, प्रार्थना समाज के रानाडे, आर्य समाज के स्वामी दयानन्द, थिसोसोफिकल सोसाइटी की एनी बेसेंट, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द ऐसे युगप्रवर्तक व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने हिन्दू समाज के बौद्धिक, सांस्कृतिक और धार्मिक एवं आध्यात्मिक परिदृश्य को बदल डाला। राजनीतिक आन्दोलन इनसे कैसे अप्रभावित रह सकते थे?

श्री अरविन्द के चिन्तन की पृष्ठभूमि में यह सारा पुनर्जागरण था। उनके राष्ट्रवादी चिन्तन का सूत्र हमें उनके इस विचार में मिलता है कि “भारत में जीवन सम्बन्धी सभी बड़े आन्दोलन किसी नए आध्यात्मिक चिन्तन और साधारणतया एक नई धार्मिक गतिविधि से प्रारम्भ हुए हैं।” इसी विचार को आधार बनायें तो 1883 में बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यास ‘आनन्दमठ’ का प्रकाशन एक बड़ी घटना है। इसी पुस्तक से भारत को एक संजीवन मन्त्र मिला—वन्दे मातरम्! श्री अरविन्द ने बंकिम को ‘ऋषि’ कहा है। मानो इस मन्त्र से उन्होंने भारत की स्वाधीनता के द्वार खोल दिए थे। श्री अरविन्द की ‘राष्ट्र’ की अवधारणा का रहस्य इसी मन्त्र में निहित है। उनकी

‘भवानी मन्दिर’ योजना का प्रारूप ‘आनन्दमठ’ के प्रभाव से ही बना था। भवानी है अनन्त शक्ति, राष्ट्र की ऊर्जा। ‘भवानी मन्दिर’ में भवानी स्वयं अपना परिचय देती हैं—“I am the Infinite Energy which streams forth from the Eternal in the world and the Eternal in yourselves. I am the Mother of the Universe, the Mother of the worlds, and for you who are children of the Sacred Land, Aryabhami, made of her clay and reared by her sun and winds, I am Bhawani Bharati, Mother of India.”

‘भवानी मन्दिर’ में ही श्री अरविन्द राष्ट्र का यह स्वरूप व्यक्त करते हैं—

“For what is a nation? What is our mother-country? It is not a piece of earth, nor a figure of speech, nor a fiction of the mind. It is a mighty Shakti, composed of the Shaktis of all the millions of units that make up the nation just as Bhawani Mahisha Mardini sprang into being from the Shakti of all the millions of gods assembled in one mass of force and welded into unity.”

जब श्री अरविन्द भारतीय राष्ट्रवाद के पैगम्बर बनकर प्रकट हुए तो उन्होंने अनेकत्र इसी तरह के विचार प्रस्तुत किए। अपने राष्ट्र को ‘भारतमाता’ के रूप में देखने की चरम परिणति उस पत्र में मिलती है जो उन्होंने अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को लिखा था। उन्होंने लिखा—“अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी भर मानते हैं, मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। माँ की छाती पर बैठ यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिए उद्यत हो तो भला बेटा क्या करता है? निश्चित हो भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने लिए बैठ जाता है या माँ का उद्धार करने के दौड़ पड़ता है?”

‘राष्ट्र’ की अवधारणा से जुड़ी हुई है ‘राष्ट्रीयता’ की अवधारणा। भारत माता है लेकिन बेड़ियों में जकड़ी हुई पराधीन माता। श्री अरविन्द ने प्रश्न किया कि अपनी माँ की, देवी की दयनीय स्थिति देखकर पुत्रों का कर्तव्य क्या है? राष्ट्रवाद एक बौद्धिक विनोद नहीं, एक साधना है। उन्होंने एक भाषण में स्पष्ट किया—

“What is Nationalism? Nationalism is not a mere political programme; nationalism is a religion that has come from God; Nationalism is a creed which you shall have to live...If you are going to be nationalist, if you are going to assent to this religion of nationalism, you must do it in the religions spirit. You must remember that you are the instruments of God.”

राष्ट्र और राष्ट्रवाद की इस अवधारणा को कह सकते हैं आध्यात्मिक राष्ट्रवाद। राष्ट्र और राष्ट्रीयता को धर्म एवं आध्यात्मिकता से जोड़ने का लक्ष्य था जनसाधारण

में स्वाधीनता की चेतना जगाना। राष्ट्रीय आन्दोलन चन्द अंग्रेजी पढ़े-लिखे विशिष्ट वर्ग का मनोविनोद न बन जाए, बल्कि वह जनान्दोलन बने—इस चिन्तन के पीछे यही प्रेरणा थी। बंगाल नेशनल कॉलेज के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए श्री अरविन्द ने कहा था—“Such a time has now arrived for our Motherland when nothing is dearer than her service, when everything else is to be directed to that end. If you will study, study for her sake. You will go abroad to foreign lands that you may bring back knowledge with which you may do service to her. Work that she may prosper. Suffer that she may rejoice. All is contained in that one single advice.”

श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद कितने व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित था, यह उनके इन शब्दों में व्यक्त है—

“Nationalism depends for its success on the awakening and organising of the whole strength of the nation; it is therefore vitally important for Nationalism that the politically backward classes should be awakened and brought into the current of political life; the great mass of orthodox Hinduism which was hardly even touched by the old Congress movement, the great slumbering mass of Islam which has remained politically inert throughout the last century, the shopkeepers, the artisan class, the immense body of illiterate and ignorant peasantry, the submerged classes, even the wild tribes and races still outside the pale of Hindu civilisation, Nationalism can afford to neglect and omit none.”

श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद का लक्ष्य क्या था? यह लक्ष्य था पूर्ण स्वराज, विदेशी शासन से पूर्ण मुक्ति। पूर्ण स्वराज का यह लक्ष्य श्री अरविन्द ने उस समय देश के सामने रखा जिस समय इसे अव्यावहारिक और असामयिक माना जा रहा था। उदारपन्थी नेता गोपाल कृष्ण गोखले के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—“केवल पागलखाने के सामने खड़े लोग ही स्वाधीनता की बात सोच सकते या कह सकते हैं।...ब्रिटिश शासन का कोई विकल्प नहीं है—केवल अभी बल्कि भविष्य में लम्बे समय तक।”

राष्ट्रवाद के पैगम्बर श्री अरविन्द ऐसी परिस्थिति में पूर्ण स्वराज की उद्घोषणा क्यों कर रहे थे? हम देख चुके हैं कि वह राष्ट्र को भवानी शक्ति मानते थे और राष्ट्रवाद को धर्म। भारत को स्वाधीनता केवल अपने राजनीतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं चाहिए, यह चाहिए सम्पूर्ण मानवता के उत्थान के लिए, आध्यात्मिक क्षेत्र में जगद्गुरु बनने के लिए, मानव-जाति को प्रगति-पथ पर ले चलने के लिए। ‘भवानी मन्दिर’ में ही उन्होंने लिखा—

“India must be Reborn, because her Rebirth is demanded by the future of the world : India can not perish, our race can not become extinct,

because among all the divisions of mankind it is to India that is reserved the highest and the most splendid destiny, the most essential to the future of the human race. It is she who must send forth from herself the future religion of the entire world, the Eternal religion which is to harmonize all religions, science and philosophies and make mankind one soul.”

अपने प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में उन्होंने बहुत स्पष्टतापूर्वक कहा—“She (India) does not rise as other countries do, for self or when she is strong, to trample on the weak. She is rising to shed the eternal light entrusted to her over the world. India has always existed for humanity and not for herself and it is for humanity and not for herself that she must be great.”

‘वन्दे मातरम्’ का सम्पादन भी इस देश के जागरण के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। इसमें प्रकाशित श्री अरविन्द के लेख केवल सामयिक पत्रकारिता की ऊँचाइयों के ही प्रमाण नहीं हैं, वे आज भी प्रासंगिक हैं और राष्ट्रीय जीवन के लिए सदैव प्रासंगिक बने रहेंगे। 1908 में लिखे एक सम्पादकीय में पूर्ण स्वराज का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने विश्व में भारत की भूमिका की उद्घोषणा इन शब्दों में की है—“But the function of India is to supply the world with a perennial source of light and renovation. Whenever the first play of energy is exhausted and earth grows old and weary, full of materialism, racked with problems she can not solve, the function of India is to restore the youth of mankind and assure it of immortality.”

व्यापक दृष्टि से देखें तो पूर्ण राजनीतिक स्वराज राष्ट्र की आध्यात्मिक महानता की सिद्धि के लिए एक साधन मात्र है। श्री अरविन्द ने एक भाषण में घोषणा की थी—“Swaraj is not the colonial form of government nor any form of government. It means that fulfilment of our national life...our object, our claim is that we shall not perish as a nation, but live as a nation.”

श्री अरविन्द का अध्यात्म जीवन के समग्र विकास का अध्यात्म है। वह जीवन से पलायन की प्रेरणा नहीं देता, जीवन के रूपान्तर और बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। पूर्ण स्वराज की प्रथम सीढ़ी है राजनैतिक स्वाधीनता। उनके शब्द हैं—

Political freedom is the life-breath of a nation; to attempt social reform, educational reform, industrial expansion, the moral improvement of the race without aiming first and foremost at political freedom, is the very height of ignorance and futility.”

उदारपन्थियों द्वारा विदेशी शासकों से कुछ सुधारों की भीख माँगना श्री अरविन्द को भारतीय गौरव और गरिमा की दृष्टि से बेहद हास्यास्पद लगता था। उन्होंने पहली बार 'वन्देमातरम्' के माध्यम से पूर्ण स्वराज का आदर्श और एक सम्पूर्ण दर्शन भारत की जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। कर्जन ने बंगाल के विभाजन के द्वारा जो स्थिति देश को दी, उसको श्री अरविन्द ने राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर मोड़ दिया। 1909 में उन्होंने एक भाषण में कहा—“We preach the gospel of unqualified Swaraj. There are some who fear to use the word ‘freedom’ but I have always used the word because it has been the Mantra of my life to aspire towards the freedom of my country.”

श्री अरविन्द राष्ट्रवाद के अग्रदूत केवल इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का एक सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत किया, बल्कि इसलिए हैं कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक व्यावहारिक रणनीति भी तैयार की। इस व्यावहारिक रणनीति के कई आयाम दिखलाई देते हैं। ये हैं—

1. भारत की महान् सांस्कृतिक परम्परा के प्रति गौरव की भावना
2. क्रान्तिकारी कार्यविधि और सशस्त्र विद्रोह
3. सत्याग्रह
4. बहिष्कार, जिसके कई रूप हैं यथा—आर्थिक, शैक्षिक, न्यायिक, सामाजिक आदि।

इन आयामों के व्यापक विवेचन के लिए अनेक संगोष्ठियाँ अपेक्षित हैं, लेकिन यहाँ इनका संकेत आवश्यक है। हमने प्रारम्भ में उन्नीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण का सन्दर्भ दिया था। बीसवीं शताब्दी में एक और पुनर्जागरण हुआ और इसके सूत्रधार श्री अरविन्द हैं। सक्रिय राजनीति को पीछे छोड़कर जब श्री अरविन्द पांडिचेरी चले गये, तब भी भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य के लिए उनका सरोकार निरन्तर बना ही नहीं रहा, व्यापक रूप भी लेता गया। भारतीय संस्कृति का विस्तृत परिचय उन्होंने ‘आर्य’ में प्रकाशित लेखमाला द्वारा दिया जो बाद में ‘भारतीय संस्कृति के आधार’ शीर्षक से पुस्तकाकार छपी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी गतिविधियों को न्यायसंगत और अनिवार्य मानते हुए श्री अरविन्द ने बड़ौदा से कलकत्ता पहुँचकर आन्दोलन का जो दिशा-निर्देशन किया था, उसका गम्भीर शोध हुआ है। गुप्तचर विभाग ने श्री अरविन्द को ‘भारत का सबसे खतरनाक व्यक्ति’ कहा था तो यह अकारण नहीं था। अप्रैल 1907 में श्री अरविन्द ने ‘वन्दे मातरम्’ में ‘सत्याग्रह का सिद्धान्त’ शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी, जो उनकी व्यावहारिक रणनीति का प्रमाण है। एक ओर क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन तथा दूसरी ओर सत्याग्रह का उद्घाटन एक ही लक्ष्य के दो मार्ग हैं। सत्याग्रह और बहिष्कार को आपस में जोड़ते हुए श्री अरविन्द ने लिखा—“The first

principle of passive resistance, therefore, which the new school have placed in the forefront of their programme, is to make administration under present conditions impossible by an organised refusal to do anything which shall help either British commerce in the exploitation of the country or British officialdom in the administration of it—unless and until the conditions are changed in the manner and to the extent demanded by the people. This attitude is summed up in one word—boycott.”

आगे चलकर महात्मा गाँधी के नेतृत्व में विदेशी शासन के विरुद्ध जो लड़ाई लड़ी गई, उसमें बहिष्कार और स्वदेशी प्रमुख शस्त्र बने, लेकिन ये शस्त्र बंग-भंग के साथ ही गढ़े जा चुके थे।

श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओं का संक्षिप्त विवरण हमने देखा। भारत की स्वाधीनता नियत है, इसके बारे में श्री अरविन्द निश्चित थे, लेकिन स्वाधीन भारत का लक्ष्य क्या होगा—उनकी चिन्ता का विषय यह था। सक्रिय राजनीति से हटकर वह पांडिचेरी चले गए, लेकिन भारत राष्ट्र से वह एक क्षण के लिए भी विमुख नहीं हुए। ‘न्यू लैम्पस फॉर ओल्ड’ से लेकर ‘लाइफ डिवाइन’ तक की यात्रा के अन्तःसूत्रों को मिलाएँ तो श्री अरविन्द की चिन्तन धारा में भारत का अतीत, उसका वर्तमान और उसका भविष्य एक क्रम में आबद्ध दिखलाई देते हैं। डॉ. कर्ण सिंह के शब्दों में कहें तो “राष्ट्रीय आन्दोलन को गूढ़ और आध्यात्मिक महत्त्व देने, उसके सामने पूर्ण स्वराज का प्रेरणाप्रद आदर्श रखने, भारत की विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के तेज में नवजीवन अनुप्राणित करने, स्वाधीनता के आदर्श की प्राप्ति के लिए एक राजनीतिक योजना तैयार करने तथा सारे आन्दोलन को अन्तरराष्ट्रीय और मानव एकता के आदर्श के मुख्य प्रसंग में रखने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को (श्री अरविन्द को) है।”

राष्ट्रवाद का जो आदर्श श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया था, उसको और अधिक स्पष्ट करने और आगे बढ़ाने का श्रेय श्री माँ को है। मैं उनके स्मरण के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहूँगा। 1964 में ‘इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इंडिया’ का गणतन्त्र दिवस विशेषांक निकलना था। सम्पादक ने कुछ प्रश्न श्री माँ के पास भेजे। पहला ही प्रश्न था—“If you were asked to sum up, just in one sentence, your vision of India, what would be your answer?” श्री माँ ने एक ही वाक्य में उत्तर दिया था—“India’s true destiny is to be the Guru of the World.”

श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद इसी उच्चतर लक्ष्य का प्रथम सोपान है। व्यक्ति-राष्ट्र-मानव जाति एक ही चेतना के बृहत्तर आयाम हैं। हम अपनी जीवन-यात्रा में किस मोड़ पर खड़े हैं, इसका मूल्यांकन हमारे अतिरिक्त भला कौन करेगा?

सिख धर्म : मानवतावादी स्वरूप

डॉ. महीप सिंह*

सभी सिख अपनी अरदास (प्रार्थना) के अन्तिम चरण में कहते हैं—

नानक नाम चढ़दी कला

तेरे भाणे सरवत दा भला

(हे नानक, परमेश्वर के नाम की चन्द्र कलाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहें और उसकी कृपा (देवी इच्छा) से सभी का कल्याण हो।)

मनुष्य मात्र के कल्याण की कामना सिख धर्म में मात्र एक सदिच्छा या शुभकामना नहीं है, वह उसके अस्तित्व की मूलभूत भावना है जो मनुष्य मात्र की समता, गरिमा, अन्तःसम्बन्ध और सहयोग पर आधारित है। यही कारण है कि सम्पूर्ण सिख साधना (पारलौकिक और इहलौकिक) व्यक्तिमुखी न होकर समाजमुखी है। वह किसी प्रकार के ऊँच-नीच, सवर्ण-अवर्ण, सम्पन्न-विपन्न के भेद को स्वीकार नहीं करती। वह किसी प्रकार के लिंगभेद, जातिभेद, रंगभेद, भाषाभेद, देशभेद, धर्मभेद अथवा वेशभूषा को स्वीकार नहीं करती है, मानव-मात्र की समता में अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त करती है। कुछ अधिक विस्तार से इस विषय पर चर्चा करने से पूर्व दसवें गुरु—गुरु गोबिन्द सिंह (1666-1708) के विपुल साहित्य भंडार में से एक बानगी को देख लेना उपयोगी हो सकता है—

कोउ भयो मुँडिया संन्यासी कोऊ जोगी भयो,

कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जति अनुनबो।

हिन्दू तुरकि कोऊ राफजी इमाम शाफी,

मानस की जात सबै एकै पहचानबो॥

* डॉ. महीप सिंह, सी-1/407 पालम विहार, गुड़गाँव, (यह लेख हमें उनकी मृत्यु के दो सप्ताह पहले प्राप्त हुआ था।)

इस कवित्त की इन प्रारम्भिक पंक्तियों में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है—

‘मानस की जात सबै एकै पहचानबो’

(मैं सम्पूर्ण मनुष्य जाति की पहचान एक ही रूप में करता हूँ।)

भारत में उत्पन्न हुए धर्मों में, जिन्होंने इस देश के वैदिक सनातन हिन्दू धर्म से पृथक् अपने अस्तित्व की घोषणा की और उसे एक निश्चित स्वरूप में ढाला है, सिख धर्म आज कदाचित्त सबसे अधिक सचेत, सक्रिय और विकासशील धर्म है। किसी भी धर्म की पृथक् पहचान के लिए जिन विशिष्ट तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे सभी तत्त्व सिखों के गत पाँच शताब्दियों की अवधि में निरन्तर विकसित होते रहे हैं और आज उनका एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं। गुरु नानक (1469-1539) इस धर्म के प्रवर्तक हैं, अन्य नौ गुरुओं—गुरु अंगद (1504-1552), गुरु अमरदास (1479-1574), गुरु रामदास (1534-1581), गुरु अर्जुन देव (1563-1606), गुरु हरगोबिन्द (1595-1644), गुरु हरिराय (1630-1661), गुरु हरिकृष्ण (1656-1664), गुरु तेगबहादुर (1622-1675) और गुरु गोबिन्द सिंह (1666-1708) की अविच्छिन्न परम्परा द्वारा यह धर्म अपने स्वरूप को निरन्तर विकसित करता रहा। इस धर्म का अपना धर्म ग्रन्थ है, अपने तीर्थ स्थान हैं, अपनी पौराणिकता है, अपना इतिहास है और अपना साहित्य है।

‘गुरु ग्रन्थ साहब’ सिखों का मुख्य धार्मिक ग्रन्थ है, परन्तु वह सिखों के साथ ही अन्य असंख्य लोगों का पूज्य ग्रन्थ भी है, जो गृहीत अर्थों में सिख नहीं हैं। पंजाब और सिन्ध की बहुत बड़ी जनसंख्या के अतिरिक्त देश के विभिन्न मार्गों में फैले हुए अगणित नानक पन्थियों, उदासियों, रामरायियों, राधा स्वामियों तथा अन्य अनेक सम्प्रदायों के मध्य भी वह पूरी तरह समादृत है। इतना होते हुए भी ‘गुरु ग्रन्थ साहब’ में क्या है, इसका परिचय अधिक लोगों को नहीं है। सामान्यतः यही समझा जाता है कि यह सिखों का धर्म ग्रन्थ है और इसमें सिख गुरुओं की वाणियाँ संगृहीत हैं। इसलिए ‘गुरु ग्रन्थ साहब’ का संक्षिप्त परिचय यहाँ उपयुक्त रहेगा।

‘गुरु ग्रन्थ साहब’ लगभग 1400 पृष्ठों का एक विशाल ग्रन्थ है। पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव ने सन् 1604 ई. में इसका सम्पादन कार्य पूर्ण किया था। ‘गुरु ग्रन्थ साहब’ में इनकी रचनाएँ संगृहीत हैं—

सिख गुरु

1. गुरु नानक, 2. गुरु अंगद देव, 3. गुरु अमरदास, 4. गुरु रामदास, 5. गुरु अर्जुन देव, 6. गुरु तेगबहादुर। इस ग्रन्थ में गुरु तेगबहादुर की वाणी बाद में गुरु गोबिन्द सिंह ने सम्मिलित की थी।

भक्तगण

1. शेख फरीद, 2. जयदेव, 3. त्रिलोचन, 4. नामदेव, 5. सदाना, 6. वेणी, 7. रामानन्द, 8. कबीर, 9. रविदास, 10. सैण, 11. धन्ना, 12. भीखन, 13. परमानन्द, 14. सूरदास

भट्ट तथा अन्य कवि

1. मरदाना, 2. सुन्दरदास, 3. बलवंड और सत्ता, 4. कल्लसहार, 5. जालप, 6. कीरत, 7. मिक्खा, 8. सल्ल, 9. भल्ल, 10. गयन्द, 11. मथुरा, 12. बल्ल, 13. हरिवंश, 14. नल्ल।

(गुरु ग्रन्थ साहिब में अधिकांश वाणी सिख गुरुओं की हैं, परन्तु शेख फरीद, कबीर, रविदास, नामदेव आदि सन्तों-भक्तों की रचनाओं का बहुत बड़ा अंश इसमें संग्रहीत किया गया है।)

अनेक पक्षों से यह ग्रन्थ संसार का अद्वितीय एवं अनोखा धर्म-ग्रन्थ है। इसमें 35 रचनाकारों की वाणियाँ संग्रहीत हैं। कुछ एक प्राचीन प्रतियों में मीरा का भी एक पद है। इस ग्रन्थ में हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी, उच्च वर्ण के सन्त भी हैं और कथित नीच वर्ण के भक्त भी। बारहवीं शती के शेख फरीद (जन्म 1173) के बाद की लगभग पाँच शताब्दियों की परिधि में फैले गुरुओं, सन्तों, सूफियों और भाटों की रचनाएँ इस ग्रन्थ में हैं। तत्कालीन भारत के अनेक धर्मो-जातियों का ही प्रतिनिधित्व इस ग्रन्थ में नहीं हुआ, अपितु अनेक प्रदेशों का भी हुआ। जयदेव बंगाल के थे तो नामदेव, त्रिलोचन और परमानन्द महाराष्ट्र के थे, सदाना सिन्ध के थे, धन्ना राजस्थान के, सैण मध्य प्रदेश के, रामानन्द, कबीर, रविदास, भीखन उत्तर प्रदेश के, शेख फरीद पश्चिमी पंजाब के थे तथा अन्य गुरु केन्द्रीय पंजाब के थे।

गुरु ग्रन्थ साहिब में संगृहीत सभी सिख गुरुओं ने अपनी रचनाओं में 'नानक' कवि नाम का ही उपयोग किया है। इससे प्रायः भ्रम भी पैदा होता है। पद के अन्त में नानक नाम देखकर यह अनुमान सहज ही लगा लिया जाता है कि यह रचना प्रथम गुरु नानक की है। हिन्दी साहित्य के अनेक ग्रन्थों में अन्य गुरुओं की रचनाओं को गुरु नानक के नाम से उद्धृत किया गया है, उसके पीछे भी यही भ्रम काम करता रहा है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' के सम्पादक गुरु अर्जुन इस दृष्टि से सचेत थे उन्होंने प्रत्येक नानक की रचना के साथ महला एक, दो, तीन, चार, पाँच, शीर्षक लगा दिया। उदाहरण के लिए गुरु ग्रन्थ साहिब में प्रत्येक शब्द का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

सिरी रागु महला 1

+ +

माफ महला 4

+ +

गउडी महला 5

इसका अर्थ है यह 'शब्द' 'सिरी राग' में निबद्ध है और इसके रचयिता प्रथम नानक हैं। इसी तरह यह पद 'माझ' राग में है और इसके रचयिता चौथे नानक गुरु रामदास हैं। या यह पद 'गउडी' में है और वह पाँचवें नानक गुरु अर्जुन द्वारा रचित है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का विषय

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का स्वरूप प्रबन्धात्मक नहीं है। यद्यपि इसमें संकलित कुछ रचनाएँ प्रबन्ध स्वरूप की हैं। परम सत्ता की स्तुति में आडम्बर और अहंकार रहित विशुद्ध प्रेम विह्वल भाव से गाये और रचे भजनों का संग्रह इस ग्रन्थ में है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। मनुष्य भेदों से ऊपर उठकर उसमें प्रेम, समता, बन्धुता और परमेश्वर में अनन्य प्रीति उत्पन्न कर चिरन्तन आनन्द की अनुभूति उत्पन्न कराना ही इस ग्रन्थ का मूल विषय है। सत्य, सन्तोष और विचार इन तीनों वस्तुओं का मानो एक पात्र में एकत्रीकरण हुआ है, जिन्हें परमेश्वर के अमृत नाम-रूपी रस में गूँथा गया है। इसका आस्वाद करने वाले जिज्ञासु का कल्याण निश्चित है। पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव ने इस भाव को इस तरह व्यक्त किया है—

थाल विचि तिनि वसतू पईओ, सतु सन्तोखु वीचारो॥

अमृत नामु ठाकुर का पईओ, जिसका सभसु अधारो॥

जे को खायै जे को भुचै तिसका होइ उधारो॥

एह वसतु तजी नह जाई नित-नित रखु उरिधारो॥

तम संसारु चरन लागि तरी ऐसभु, नानक ब्रह्म पसारो॥

परमात्मा की परिकल्पना

गुरु नानक तथा अन्य गुरु ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप के उपासक थे। वे अवतारवाद के समर्थक नहीं थे, उसे अजन्मा और अयोनि मानते थे। परन्तु उनका निर्गुण ब्रह्म गुणहीन न होकर गुणातीत है, इसी प्रकार निराकार का अर्थ आकारहीनता के साथ-ही-साथ आकारातीत होना भी है। गुरुओं के लिए परम सत्य निर्गुण भी है, सगुण भी है अर्थात् उभय स्वरूप है। वह दोनों है और दोनों से परे है। गुरु नानक ने 'सिध गोसटि' (सिद्ध गोष्ठि) में कहा कि उसी परमसत्ता ने अव्यक्त निर्गुण रूप को उत्पन्न किया—

अविगतो निरमाइलु उपजे

निरगुण ते सरगुण थीआ।

गुरु अमरदास ने कहा कि परमात्मा स्वयं ही निर्गुण स्वरूप है और स्वयं ही सगुण स्वरूप है। जो इस तथ्य को पहचानता है, वही वास्तविक पण्डित है—

निरगुण सरगुण आपै सोई।
सतु पछाणै सो पण्डित होई॥

गुरु अर्जुन की अनेक उक्तियों में इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है—

तूं निरगुण तूं सरगुनी
+ +
निरंकार आकार आपि निरगुण सरगुन एक है
+ +
निरगुन आपि सरगुन भी ओही।
कला धारि जिनि सगली मोही॥

गुरु नानक ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना ‘जपुजी’ के प्रारम्भ में इस मूलमन्त्र के द्वारा परमात्मा की परिकल्पना स्पष्ट की है—

1. एक ओंकार, सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजूनि सैभं गुरु प्रसादि।

(वह एक है, उसका नाम सत्य है, वह सृष्टि का कर्ता है, वह सभी में व्याप्त है, वह भय मुक्त है, वह शत्रुता रहित है, वह काल रहित है, वह अजन्मा है, स्वयं प्रकाशित है और गुरु की कृपा से उसका साक्षात्कार होता है।)

गुरुवाणी में सर्वत्र परमात्मा के सर्वव्यापक, सर्वपोषक और सर्वरक्षक स्वरूप का वर्णन किया गया है—

चारि कुंठ चउदह भवन सगल विआपत राम
+ + + (गुडड़ी म. 5)
सो अन्तरि सो बाहरि अनन्त
घटि घटि बिआपि रहिआ भगवंत (गुडड़ी म. 5)

वह सर्व शक्तिमान है, करण-कारण समर्थ है—

करण-कारण समरथ प्रभु जो करे सो होई।
छिन महि थापि उथापदा तिस बिन नहि कोई॥ (बार जैतसरी म. 5)

जिस प्रकार वनस्पति में अग्नि और दूध में घी व्याप्त है, उसी तरह परमेश्वर की ज्योति ऊँच-नीच सभी में पसरी हुई है—

सगल वनसपत महि बैसन्तरु सगल दूध महि घीआ।
ऊँच-नीच महि जोत समाणी घटि-घटि माधउ जीआ। (सोरठ म. 5)

सृष्टि-रचना

गुरुवाणी में परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता और कारण माना गया है। परमात्मा के अस्तित्व से ही सृष्टि दृश्य रूप में प्रकट हुई—

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ

—बार आसा म. 1

गुरु अमरदास ने लिखा है कि परमात्मा स्वयं ही सृष्टि का कारण और कर्ता है। वही सृष्टि की रचना करता है और फिर स्वयं उसे देखता है और परमात्मा सभी में व्याप्त है, फिर भी अलक्ष्य है—

आपै कारण करता करे सितस सिसटि देखे आपि उपाई।
सभ एको इकु बरतदा, अलखु न लखिआ जाई॥

—सिरी रागु म. 3

गुरुमत का विचार है कि सृष्टि की उत्पत्ति ‘हुकम’ से होती है और गुरु नानक ने कहा कि प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नहीं। उस ‘हुकम’ को यदि कोई भली-भाँति समझ सके तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले, अहंकार का बोध नहीं होता—

हकुमै अन्दरि सभु को बाहरि हुकम न कोई।
नानक हुकमै जे बुझे, त हउमै कहै न कोई॥—जपुजी

इसलिए परमात्मा के ‘हुकम’ से ही सभी आकार निर्मित होते हैं—

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वसित्राई॥—जपुजी

अर्थात् सभी प्रकार की आकार-सृष्टि उस एक परमात्मा के ‘हुकम’ से होती है। उसके ‘हुकम’ के सम्बन्ध में कोई कुछ कह नहीं सकता। ‘हुकम’ से जीवों के अस्तित्व प्राप्त होता है, ‘हुकम’ से ही उन्हें बड़ाई, जीवन की सार्थकता प्राप्त होती है।

ब्रह्म को सत्य और उसकी रचना को मिथ्या मानने पर बहुत-सा आग्रह इस देश में किया गया है। अद्वैत वेदान्त में इन प्रश्नों पर बार-बार विचार हुआ है कि माया भ्रम है, मिथ्या है या सत्य है; यह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न। यह मानते हुए भी कि माया ईश्वर की शक्ति है जिसके माध्यम से ईश्वर अनन्त रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है, वेदान्तियों ने माया और जगत का निरन्तर तिरस्कार किया और बार-बार इसे मिथ्या कहा। इसका परिणाम यह भी हुआ कि ‘मिथ्या संसार’ के दायित्वों के प्रति भी लोग उदासीन होने लगे और प्रत्यक्ष जीवन और जगत के प्रति निरासक्ति का भाव बढ़ने लगा, जो इस देश की अनेक व्याधियों का कारण बना।

सिख धर्म में जगत को मिथ्या नहीं माना गया और न ही इसे भ्रम कहा गया है। परमात्मा सच है और उसकी रचना भी सच है—

सचे तेरे खंड सचे ब्रह्मांड
सचे तेरे लोअ सचे आकार॥
सचे तेरे करणी सरब बीचार।

—वार आसा महला 1.

‘आसा दी वार’ में गुरु नानक ने स्पष्ट कहा है कि यह संसार सच्चे परमात्मा की कोठरी है और इसमें सच्चे परमात्मा का निवास है—

इहु जगु सचे की है कोठड़ी
सचे का विचि वासु॥

परन्तु ‘गुरु ग्रन्थ साहिब’ में ऐसी उक्तियों की भी कमी नहीं, जहाँ संसार को स्वप्नवत, जल के बुलबुले के समान, जल के फेन के सदृश, मृगतृष्णा की तरह, बालू की दीवार के समान या विष के समुद्र की तरह माना गया है।

परन्तु यहाँ किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। सिख गुरुओं ने इस संसार को कर्मभूमि माना है। वह कर्म करते हुए, सांसारिक दायित्वों का पालन करते हुए, आसक्ति में निरासक्त जीवन जीने के हामी हैं। गुरु नानक का कथन है—

जैसे जल महि कमल निरालभु मुरगाई नैसाणे
सुरति सबदि भव सागर तरीये नानक नामु बखाणे।

गु. ग्रं. सा. पृ. 938

यह संसार कर्मभूमि के रूप में, परमेश्वर की आत्म-सृष्टि के रूप में सच है, परन्तु जो लोग इस संसार के भोगों को ही अन्तिम सच मान बैठते हैं, उनके लिए भोग युक्त संसार की असारता की बात स्थान-स्थान पर कही गयी है।

माया

यह शक्ति जो व्यक्ति को संसार में अपने अस्तित्व की सार्थक दिशा से भटकाकर पथ भ्रष्ट करती है, माया है। भारतीय दर्शन प्रणालियों में माया पर बहुत विचार किया गया है। आदि शंकराचार्य के दर्शन में माया और अविद्या को समानार्थक माना गया है और उसकी दो शक्तियों का वर्णन किया गया है—प्रथम आवरण शक्ति जिसके द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देती है, द्वितीय विक्षेप शक्ति जिसके द्वारा माया अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत को उत्पन्न करती है। शंकर के बाद वेदान्ती माया को ब्रह्म की भावनात्मक शक्ति के रूप में मानते हैं। परन्तु माया के स्वरूप को लेकर स्वयं वेदान्तियों में अनेक मतभेद रहे हैं।

सिख धर्म में माया का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया, उसे परमात्मा के ‘हुकम’ से उत्पन्न माना गया है—

निरंकारि आकरु उपाइआ
माइआ मोहु हुकमि बणाइआ

अर्थात् उस निराकार सत्ता ने ही दृश्यमान आकार स्वरूप की रचना की है। उसके ‘हुकम’ से ही माया-मोह की रचना हुई है।

गुरु नानक ने एक स्थान पर लिखा है—‘वह निरंजन माया से रहित प्रभु आप-ही-आप है और उसी ने अपने-आपको सृष्टि के रूप में उत्पन्न किया है। उसने स्वयं जगत रूपी खेल की रचना की है। उस प्रभु ने ही सत्, रज, तम त्रिगुणों की रचना की और माया-मोह की वृद्धि की—

आपे आप निरंजना जिनि आपु उपाइआ।
आपे खेलु रचाइयोनु सभु जगतु सवाइआ॥
त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोह वधाइया।

गु. ग्रं. सा. पृ. 1237

यह ठीक है कि माया की रचना भी प्रभु द्वारा हुई, क्योंकि वह तो सर्व-रचनाशील है। परन्तु माया के बन्धन से उबरकर प्रभु-सान्निध्य मिल सकता है। इसी पद की अगली दो पंक्तियों में गुरु नानक कहते हैं—

गुरु परसादी उबरे जिन भाणा भाइया।
नानक सचु वरतदा सभ सचि समाइआ॥

गु. ग्रं. सा. पृ. 1237

जो गुरु के प्रसाद से परमात्मा की इच्छा को समझने में समर्थ हो गये, वे उबर गये। परमात्मा रूपी सच सभी में समाहित है और सर्वत्र घटित है।

माया की असीम शक्ति को सभी मानते हैं। वह भटका देती है, हम में दुविधा उत्पन्न कर देती है। पर यदि सही मार्गदर्शक गुरु मिल जाए तो दुविधा मिट जाती है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है—

बिनु गुर मुक्ति न पाइये
ना दुविधा माइया जाइ।

हउमै (अहंकार)

माया के विविध रूपों में—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार—इन पाँच शक्तियों की हमारे देश के धार्मिक परिवेश में बहुत चर्चा हुई है। गुरु ग्रन्थ साहब में भी कहा गया है कि इन पाँच दूतों ने सारे संसार को अपने मोहपाश में जकड़ रखा है—

पंच दूत मुहसि संसारा—गु. ग्रं. सा. पृ. 113

गुरु ग्रन्थ साहब में अनेक स्थानों पर इन पाँच विकारों की चर्चा हुई है, परन्तु हउमै अहंकार की चर्चा सबसे अधिक हुई है। अन्य विकार काम, क्रोध, लोभ और मोह सम्भवतः इतने प्रभावी नहीं हैं, जितना अहंकार है। इस बहुआयामी विकार को गुरुओं ने परमपद की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा माना है।

गुरुओं ने अहंकार के लिए 'हउमै' शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ 'हउमै' है वहाँ सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। 'नाम' सत्य से साक्षात्कार का प्रतीक है, परन्तु 'हउमै' से उसका विरोध है, दोनों एक साथ नहीं रह सकते—

हउमै नावै नालि विरोध है

दुइ ना बसहि इक ठाउ—गु. ग्रं. सा. पृ. 560

गुरु रामदास कहते हैं कि स्त्री रूपी जीवात्मा और पुरुष रूपी परमात्मा साथ-साथ रहते हैं, परन्तु नारी अपने पति से मिल नहीं पाती, क्योंकि 'हउमै' की कठिन भीत दोनों के बीच खड़ी हुई है—

धन पिउ का इक ही सांगि वासा

विचि हउमै भीति करारी—गु. ग्रं. सा. पृ. 1263

गुरुओं ने बार-बार कहा है कि हउमै एक बहुत बड़ा रोग है—

हउमै बड़ा रोगु है, भाइ दूजै करम कमाई—पृष्ठ 586

हउमै बड़ा रोगु है मरि जमै आवै जाई—पृष्ठ 592

हउमै रोगि सभु जगत विआपिआ

तनि कउ जनम मरण दुखु भारी।—पृष्ठ 735

नानक हउमै रोग बुरे—पृष्ठ 1151

हउमै दीरघु रोगु है दारु भी इसु माहि—पृष्ठ 466

हउमै बहुआयामी रोग है। व्यक्ति अनेक प्रकार के अहंकार रूपों में ग्रसित हो जाता है अथवा ग्रसित हो जाने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। यह अहंकार अपनी साधना का हो सकता है, विद्या का अहंकार बहुत व्यापक रहा है। पढ़ना और फिर वाद-विवाद द्वारा अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना भारतीय विद्वानों का विशिष्ट गुण रहा है। गुरु अमरदास ने एक स्थान पर कहा है—

पंडित पड़ि पड़ि वादु बखाणहि

बिनु गुर भरमि भुलाने।

पंडित लोग पढ़-पढ़ वाद-विवाद में पड़े रहते हैं। गुरु के अभाव में अपने पांडित्य के भ्रम में सत्य को भूले हुए हैं।

पड़िए जेती आरजा पड़ीअहि जेते सास।

नानक लेखे इक गल होरु हउमै झखणा झाखा॥

चाहे सम्पूर्ण आयु पढ़ा जाए, चाहे अपनी हर साँस से पढ़ा जाए, परन्तु यदि एक बात, सत्य की समझ उत्पन्न नहीं हुई तो शेष अहंकार की सिर खपाई के अतिरिक्त कुछ नहीं।

जाति के अहंकार का गुरुवाणी में स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है—

जाति का गरबु न करीअहि कोई।

ब्रह्मु बिन्दे सो ब्राह्मण होई॥

जाति का गरबु न करि मूरख गवारा।

इसु गरब चे चलहि बहुत विकारा॥

धन-सम्पत्ति और रूप-यौवन सम्बन्धी अहंकार की चर्चा करते हुए गुरुवाणी में कहा गया है कि राज, पाट, गृह शोभा, रूप, जवानी, धन-दौलत, हाथी-घोड़े आदि सबकी प्राप्ति का अभिमान यहीं रह जाएगा, आगे किसी काम नहीं आएगा—

राज मिलक जोबन गृह सोभा रूपवन्तु जोआनी।

बहुत दरबु हसती अरु घोड़े लाख-लाख बैआनी॥

आगे दरगहि कामि न आवै छोड़ि चलै अभिमानी।

वास्तविकता तो यह है कि अहंकारी मूल बात को समझ ही नहीं सकता, उसे अपने-आपकी समझ भी नहीं होती और वह सदैव भ्रमित रहता है—

मूलु न बूझै आपु न सूझै भरमि विआपी अहमनी।

—गु. ग्रं. सा. पृ. 1186

हउमै से बचने का उपाय क्या है। गुरुवाणी कहती है कि अहंकार को दूर करने और सच की पहचान की पहली आवश्यकता 'सद्गुरु' की प्राप्ति है—

नानक सतगुरि मिलीये हउमै गयी,

ता सचु, बसिआ मन आइ।

सचु कमावै सचि रहै, सचे सेवि समाई।—गु. ग्रं. सा. पृ. 660

सही मार्गदर्शक के मिलते ही अहंकार से मुक्ति की प्रार्थना प्रारम्भ हो जाती है। गुरु अर्जुन देव स्वयं इस प्रश्न को उभारते हैं—हे संतो, कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे हउमै ओर गर्व का निवारण हो सके।

सन्तहु अहा बतावहु कारी। जिसु हउमै गरव निवारी॥

—गु. ग्रं. सा. पृ. 616

गुरुवाणी कहती है कि बिना 'शब्द' के न तो भ्रम नष्ट होता है, न व्यक्ति के मन से अहंकार दूर होता है—

सरब भूत पारब्रह्म करि मानिआ होवाँ सगल रैरनारी
देखिओ प्रभु जीउ अपुने संगे चुके भीति भ्रमारी॥
अउरवधु नाम निरमल जल अमृतु पाइये गुरु दुआरी।
कहु नानक जिसु मसतकि लिखिआ तिसु गुर मिलि रोग विदारी॥
गु. ग्रं. सा. पृ. 616-17

जीव और ब्रह्म की अभेदता के सिद्धान्त को गुरुवाणी में पूरी तरह स्वीकार किया गया है।

हरि हरिजन दुई एक हैं बिम्ब विचार कछु नाहिं।
जल तै ऊपजै तरंग जिउँ जल ही बिखे समाई॥

जैसे जल की तरंग जल से निकलकर जल में हरि समा जाता है, वैसे ही जीव परब्रह्म से उपजता है और उसी में समा जाता है।

गुरु नानक कहते हैं कि सभी प्राणियों में एक परमात्मा की ज्योति ही व्याप्त है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है—

सम महि जोति जाति है सोई।
तिसदै चानणि सम महि चानणु होई॥

अभेदत्व की स्थिति में जीव और परमात्मा एक रूप हो जाते हैं। हरि और हरिजन में कोई अन्तर नहीं रहता। गुरु तेगबहादुर कहते हैं—

जो प्राणी निसिदिन भजै रूप राम तिह जानु।
हरि जनि हरि अन्तरु नहीं नानक साँची मानु॥

+ + +
जिह घटि सिमरनु राम को सो नरु मुकता जानु।
तिह नर हरि अन्तरु नहीं नानक साँची मानु॥ गु. ग्रं. सा. पृ. 1425

गुरु

गुरुवाणी 'गुरु' के मुख से निःसृत वाणी है। गुरु और वाणी अनुपूरक हैं, एकरूप हैं और अभेद हैं, इसलिए गुरु, वाणी है और वाणी, गुरु है। कहा भी गया है—

वाणी गुरु गुरु है वाणी विचि वाणी अमृत सारे।
गुरु वाणी कहै सेवकु जनु मानै परतखि गुरु निसतारे॥

ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु की अनिवार्यता और महत्ता पर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है। मध्ययुगीन सन्तों की वाणी में गुरु को गोविन्द के समान कहा गया है और कहीं-कहीं तो गुरु को गोविन्द की अपेक्षा इसलिए प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि गुरु की कृपा से गोविन्द की अनुभूति होती है।

परन्तु एक धर्ममत के रूप में सिखों में गुरु की जितनी महत्ता और प्रतिष्ठा है उतनी शायद ही कहीं हो। दस गुरुओं के पश्चात् पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव द्वारा सम्पादित 'ग्रन्थ' को 'गुरु' पद आसीन कर देने का जो कार्य गुरु गोविन्द सिंह ने किया, उससे भी इस गुरु-संस्था की महत्ता पुष्ट होती है।

सिख समाज में आज 'गुरु' शब्द का वही स्थान है, जो प्राचीन धर्म-साहित्य में 'अवतार' शब्द का है। सिख धर्म में गुरु शब्द उस सत्पुरुष के लिए व्यवहृत हुआ है जो अकाल पुरुष प्रेरित हो और विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए संसार में आया हो। गुरु नानक देव एक ऐसी ही विभूति थे। गुरु नानक देव ने कहा है कि मेरा गुरु तो स्वयं अपरम्पार परब्रह्म परमेश्वर है—

ततु निरंजनु जोति सबाई सोहं भेदु न कोई जीउ।
अपरम्पार पारब्रह्म परमेश्वर, नानक गुर मिलिआ सोई जीउ॥

—गु. ग्रं. सा. पृ. 566

हिन्दू धर्म, जैसा मैंने जाना

केशीकान्त शकुन*

संस्कृत जैसी विशेष अक्षर-समूहों, छन्दों तथा मन्त्रों के प्रभाववाली, व्याकरण-सम्पन्न, ज्ञान विज्ञान-समस्त और प्राकृतिक उच्चारण-समृद्ध भाषा में लिखित चारों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्व वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। उनके बाद स्मृतियाँ, उपनिषद्, पुराण, वाल्मीकिकृत रामायण तथा वेदव्यास का महाभारत आदि आते हैं। इन्हीं में से सनातन धर्म का आविर्भाव होता है। वही मध्ययुग में आकर हिन्दू धर्म कहलाया। वास्तव में वह उक्त कृतियों के द्रष्टा एवं स्रष्टा ऋषियों और मुनियों के द्वारा मान्य जीवन-पद्धति है। आप्त प्रभाव में वे परस्पर अभिन्न हैं।

वेद जो श्रुतियों के अन्तर्गत आते हैं अर्थात् सुने हुए के लिखित रूप या कहे ऋषियों और साध्वियों पर अवतरित। उनकी रचना को आज से पाँच या छह हजार वर्ष पहले की मानें या बाद की, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उक्त कृतियाँ सर्वप्रथम सर्वव्यापक ईश्वर अथवा परमात्मा को प्रस्तुत करती हैं। भारतीयों ने सृष्टि के रचयिता ओं या ओंकार के रूप में ईश्वर की गवेषणा की, वेद उसके विग्रह की पहचान हैं। वेद का अर्थ ज्ञान है, सत्यकेतु विद्यालंकार के कथनानुसार शतपथ ब्राह्मण में वेदों को महतोभूतस्य निःश्वसित (परमेश्वर का) कहा गया है।

यह भ्रामक धारणा है कि हिन्दू धर्म केवल साकार देवी-देवताओं की उपासना से सम्बन्धित है; अपितु वे सभी उसके परम लक्ष्य में निराकार और साकार या सगुण एवम् निर्गुण एकमय आवश्यक और अविवादित हो जाते हैं, ज्ञान और भक्ति के मार्ग अवश्य भिन्न विभिन्न प्रतीत होते हैं। साकार में शैव मत, वैष्णव मत, देवी मत, गुरु-परम्परा, सिद्धनाथ सम्प्रदाय तथा बहु देवी-देवताओं की संकल्पना सम्मिलित है। शैवमत में महादेव सदाशिव की पूजा-अर्चना होती है, वैष्णव मत में विष्णु और उनसे

अवतरित परशुराम, राम तथा कृष्ण-बिट्ठल आदि के विग्रहों की और देवी मत में आदि शक्ति भगवती भवानी दुर्गा, शिवा और उसके स्वरूपों की। गुरु परम्परा में देवताओं के गुरु बृहस्पति, असुरों के गुरु शुक्राचार्य और कितने आते हैं। निराकार उपासना में ध्यान, योग, समाधि, आत्मानात्म विवेक, तर्क, दर्शन, विचार, आत्म-साक्षात्कार तथा अध्ययन-स्वाध्ययन को रखा गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा स्थापित जैसे आर्य समाज के राजा राममोहन राय ब्रह्म समाज की भाँति रामकृष्ण परमहंस हों या स्वामी विवेकानन्द इन दोनों गुरु तथा शिष्य का एक, अनेकों स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द, रमण, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, साईराम, जे. कृष्णमूर्ति, ओशो रजनीश, श्री अनिर्वाण वेद-मीमांसा के प्रणेता, महात्मा मंगत राम, स्वामी प्रभुपाद और निसर्गदत्त महाराज के मार्ग, सम्प्रदाय और पन्थ हैं। वेदों के अप्रतिम भाष्यकार, महाभारत से पृथक् गीता को जनसाधारण की पहुँच में लानेवाले प्रथम वेदान्ती तथा सनातन धर्म के उद्धारक आदिगुरु शंकराचार्य के पूर्व में गोवर्धन मठ, उत्तर में ज्योतिर्मठ, पश्चिम में शारदा मठ और दक्षिण में प्रधान शृंगेरी मठ वरार्द्धक, विवक्षित, वन्दनीय एवं समादेशक अवदान हैं।

वैदिक काल के पश्चात् परिस्थित्यानुसार आध्यात्मिक विभूतियों, योगियों, तपस्वियों और महात्माओं ने समाज को मन्दिर बनाने के लिए प्रेरित किया, ताकि जब कभी उनमें से कोई गाँव, कस्बे, या नगर आए तो ऐसा सर्वस्थल हो जहाँ रहकर वह वहाँ के वासियों को उपयोगी ज्ञान, अनुभवों और अनुभूतियों से अवगत करवा सके, जो गार्हस्थ्य में सम्भव नहीं है। वैसा सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उनमें स्थापित विग्रहों की पूजा का लगभग एक-सा किन्तु पृथक्-पृथक् विधान है। इतना होने पर भी हिन्दू मन्दिर जाने को बाध्य नहीं है, चाहे जाए या न जाए। हिन्दू धर्म तर्क और विवेक पर आधारित है तथा तदनुसार आचरण की छूट देता है। ऋग्वेद का कथन है कि तुम अपने अनुभव, स्वभाव एवम् बल पर अन्धकार से प्रकाश की ओर चलो! कुम्भ, अर्द्धकुम्भ, महाकुम्भ और सिंहस्थ के अवसर पर हरिद्वार, प्रयाग, गंगा-सागर, पुरी, रामेश्वरम्, नासिक तथा उज्जैन देश के कोने-कोने से महात्मा पहुँचते हैं, उनके प्रवचन होते हैं और उपस्थित तीर्थयात्री ऐसे महासम्मेलनों का सार-सन्देश लेकर अपने-अपने आस्थान को लौटते हैं। संक्रान्ति, सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण आदि पर्वों पर पुष्कर और कुरुक्षेत्र आदि सरोवरों और नदियों में स्नान का अपना महात्म्य है।

कथित प्रकार की आस्तिकता के विपरीत जो ईश्वर या परमात्मा को मानता है वह भी हिन्दू है और जो नहीं मानता वह भी। निरीश्वरवादी चार्वाक दर्शन में हम कर्ज लेकर घी पीने की बात करते हैं और खुदाई अस्तित्व को सिरे से नकार देते हैं, देह तक सब कुछ सीमित मानते हैं। हिन्दू धर्म में कर्मकाण्ड है यदि चाहो तो बिना कर्मकाण्ड के भी काम चला सकते हो। यहाँ विधि-अनुष्ठान पर अपने सामर्थ्यानुसार व्यय होता है। वहाँ तिल-फूल या जल की अंजलि न सही भाव-भावना ही स्वीकार्य है।

* केशीकान्त शकुन—पी-6 पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002

Keshikanst. blogspot.in, keshikant ranade@gmail.com

वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पाँति है चाहे तो न मानो। अवश्य, यह मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता देनेवाला धर्म है, नैतिक बने रहने की शर्त पर। अनैतिक जीनेवालों को असुर, राक्षस और अनार्य श्रेणी का माना गया है।

व्यवहारतया हिन्दू धर्म ऐश्वर्य का लोकपक्ष उजागर करने में सहायता करता है। इस चेतना के साथ कि मानो तो बन्धन है, नहीं मानो कोई बन्धन नहीं; फिर भी आप हिन्दू हैं। मूर्तिपूजा अन्तर्निहित स्थितप्रज्ञता का मूलाधार बताई गई है।

महाभारत के श्रीमद्भगवाद्गीता वाले अध्याय में भक्ति और ज्ञान योग का वर्णन है; परन्तु कर्म योग श्रेष्ठ उल्लिखित है। ज्ञान योग के ध्यान, धारणा और समाधि आदि प्रकार हैं तो भक्ति के सकाम, निष्काम तथा प्रपत्ति आदि। कर्म में विकर्म और अकर्म आ जाते हैं, फिर आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी की भक्ति में मूर्तिपूजा को क्यों नहीं लिया जा सकता?

हिन्दू धर्म की आलोचना करनेवालों की कमी नहीं है और उनकी भी जिन्होंने, क्योंकि हिन्दू धर्म सबसे पुराना है उसमें आई या लगतीं ऋणियों को दूर करने की बजाय दूसरा मजहब अपना लिया या नया गठन करने की बेवकूफी की है, विनोबा जी अपनी पुस्तक 'गीता प्रवचन' में कहते हैं 'विचार खूब कीजिए, आड़े-तिरछे, उल्टे-सीधे, चारों ओर से खूब सोचिए! धर्म पर विचार की कैची चलाइए! इस विचार-रूपी कैची से जो कट जाए, समझो कि वह तीन कौड़ी का था। इस तरह जो कट-छँट जाए, उसे जाने दो। तुम्हारी कैची से जो न कटे, बल्कि उससे तुम्हारी कैची ही टूट जाए, वही सच्चा धर्म है। धर्म को विचारों से डर नहीं लगता। अतः विचार तो करो; परन्तु काम एकदम मत कर डालो! अधजगे रहकर यदि कुछ करोगे तो गिरोगे। विचार जोरों से चले, फिर भी कुछ देर आचार को सँभाले रखो! अपनी कृति पर संयम रखो! अपनी पहले की पुण्याई मत गँवा बैठो!'

मत, पन्थ, मजहब, और धर्म से सम्बन्धित कुल उपलब्ध पुस्तकों का अध्ययन करके हम पाते हैं, यदि हिन्दू धर्म परिपूर्ण स्फटिक पात्र है तो शेष मत-पन्थ, सम्प्रदाय और मजहब उसमें से छिटकी हुई बूँदें। एतद्विपरीत, इनमें से कोई-न-कोई आदमी जन्म से मृत्यु तक कूपमण्डूकी पर पकड़ बनाए रखता है। हिन्दू धर्म संसार में एक मात्र ऐसा धर्म है, जो अपनी त्रुटियों के विरुद्ध बोलने और विवेकानुसार चलने की अनुमति देता है। इस छूट से अस्तित्व में आए अन्य मजहबों ने अच्छे-भले आदमी के लिए अलग शिनाख्त की मजबूरी पैदा कर दी है। हो सकता है, लेबल में जीना आदमी की फितरत हो या जन्म से इसी उद्देश्य के लिए उसे तैयार किया गया हो। अवश्य, कभी हिन्दू की निरूपित तिलक, चोटी और यज्ञोपवीत पहचान थी, थोड़ी-बहुत धार्मिक अवसरों के अलावा अब उसकी उपयोगिता नहीं समझी जाती।

ज्ञानमार्ग की कठिनाइयों, भीतियों और सन्देहों के मुकाबले आसान बताई गई, और लगती भी, भक्ति के मूलस्रोत की खोज में प्रवृत्त होने मात्र से हमारे सामने, यूँ

ही दुष्प्रभाववश जाने न जा सके को जानने के लिए प्रतिक्रिया स्वरूप ही सही, चाहे बेमन से यत्न किया गया हो दृष्टिगत भारत का वैदिक अतीत जिसको खोलना चाहते हैं, हम, उस जैसे अध्याय के साथ प्रकट हो जाता है। ईशप्रश्रय तथा कृतज्ञता के संश्लिष्ट रूप में भक्ति उस समय थी, जिसे नर और नारायण के मध्य प्रेरक चरित्र नारद के द्वारा प्रेम और प्रार्थना में प्रतिपादित किया गया है। तदन्तर्गत उनके प्रमुख शिष्यों में विष्णु-भक्त प्रह्लाद समर्पण का अन्यतम उदाहरण है। यहाँ अर्चना या इबादत का विधान उद्भव तथा क्षय के पार की सफलता को निर्देशित करता है। अतः उसकी मजहबी स्तर पर भेदमूलक संगठनात्मकता का लाभ नहीं उठाया जाना चाहिए! स्वार्थ, शोषण और भ्रष्टाचार की सुविधा का क्रम काफी बाद में शुरू हुआ माना जाता है। इस समय की राज्यसत्ता को जैसे प्रजा को वश में रखने का शस्त्र मिल गया हो। इस प्रकार की आवश्यकता तथा स्वार्थ के मेल से उत्पन्न मजहबों में एक-दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने की होड़-सी लगी दिखाई देती है। जिहाद और खून-खराबा उनकी नपुंसक श्रेणी में आते हैं। यह सब इस कारण हो पाया कि सनातन धर्म के बाद आए मजहबों ने साकार की बजाय निराकार किन्तु एकपक्षीय ईश्वर को मनवाना शुरू कर दिया। गीता में उसके लिए ज्ञानयोग अनिवार्य बताया गया है। अर्चना, पाठ या इबादत अपने लिए? औरों के लिए क्यों नहीं? तन्निमित्त आप भ्रम खड़ा नहीं कर सकते, जिसके द्वारा आप दूसरे की धन-सम्पत्ति के आहरण की छूट प्राप्त कर लेते हैं और प्रतिष्ठित हो जाने के लिए भयावह संगठन खड़ा कर लेते हैं। हिन्दू धर्म न तो किसी से डरता है और न डराता है। वर्तित समय में यह जानना जरूरी हो गया है। उससे और अधिक आप जानते कितना है? यही ज्ञान मार्ग है, जो आपको मजहब और वर्गरहित परमात्मा के संसार में ले जाता है।

हड़प्पाकालीन 2500 से 3000 ई. पूर्व की मिली मुद्रा पर ध्यानमग्न योगी का अंकित होना सिद्ध करता है, उस समय तक सगुण रूप में वैदिक शिव तत्त्व को अपना लिया गया था, समाज में उसे आराध्य स्थान प्राप्त था। हालाँकि ऋचाएँ निराकार और साकार ईश्वर में भेद नहीं करतीं। वस्तुतः वैदिक ईश्वर सगुण और निर्गुण का द्वन्द्व उत्पन्न नहीं करता और न उसके पीछे किसी अपवाद का दुराग्रह है। वह सहज रूप में प्रकट होता है, यदि कोई सच्चे मन से उसकी पूजा, पाठ या इबादत करे तो। ऐसी प्रतीति और चालाकी की जरूरत वैदिक काल में समझी नहीं गई थी।

निःसन्देह वेदों में ईशस्तुति के अतिरिक्त अहिंसा की महत्ता रेखांकित है। महाभारत में भी अहिंसा को अभेदमूलक समाज का परमधर्म बताया गया है; परन्तु जैन विशेषकर बौद्ध धर्म ने असमय अति कर दी। इसका परिणाम यह हुआ, आत्मिक स्तर पर प्राणी मात्र को समान समझने के वैदिक दृष्टिकोणवाले भारतीयों की आक्रामकों का प्रतिकार करने की शक्ति क्षीण होती गई। अशोक-जैसा सम्राट उपलब्ध वेदों, पुराणों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत और गीता के सार-संक्षेप को भूलकर

बौद्ध धम्म की शरण में चला गया। बौद्ध राज्याश्रय के मद में अत्याचारी हो गए, उनके प्रति जो धम्म को सनातन धर्म की एक शाखा मान लेना चाहते थे। इस प्रकार सनातन धर्म हिन्दू और बौद्ध धम्म में विभक्त हो गया या यूँ कहें कि सनातन धर्म की विशालता में से एक वर्ग अहिंसा की अधिक पहचान और शान्ति की तलाश में बौद्ध होने के बहाने निकल गया। सुनने में आता है, सम्भवतः एतादृश इतिहास पैदल चलता हो, यदि अशोक के भाई विशोक की, जिसने सनातन धर्म छोड़ने से इनकार कर दिया था, बौद्ध आततायियों के द्वारा हत्या न की गई होती तो अशोक को शायद ही हत्या के बदले मृत्युदण्ड का आदेश देना पड़ता। इससे सनातनियों की हत्याएँ तो रुक गईं, पर राज्याश्रय का अपना प्रभाव होता है। आक्रमणकारियों की सत्ता के साथ तो भारतीयों में और निराशा बढ़ी। वे ईश्वर के आश्रय की ओर प्रवृत्त होते चले गए और मुक्ति के सामूहिक प्रयास को आघात-पर-आघात लगता गया। इस तरह के दौर में, किसी भी भाँति बहलाए जाने के उपक्रम की विफलता के बाद भक्ति आन्दोलन प्रारम्भ होता है। भारत के पूर्व में चैतन्य महाप्रभु, शंकर देव, माधव देव, उत्तर तथा मध्य में तुलसीदास, सूरदास, बल्लभाचार्य, कुमारिल भट्ट, हरिदास, रविदास, मीरा, कबीर, दक्षिण तथा पश्चिम में सन्त तुकाराम, समर्थ गुरु रामदास, नरसी भगत, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव उत्तर-पश्चिम में लल्लेश्वरी, गुरु नानक देव से पहले और बाद में उनके भक्त कवि उत्पन्न हुए। दक्षिण के कम्बन ने तमिल में लोकप्रिय रामायण लिखी।

यदि मनुष्य ने मनुष्य के महत्त्व को समझ लिया हो तो सनातन धर्म में पूजा, इबादत या पाठ की आवश्यकता नहीं बताई गई संशयिक लग सकती है; किन्तु है नहीं, इस प्रकार की भारतीय अनीश्वरवादी सोच न तो पाश्चात्य पूँजीवादी है और न रशियन, चीनी या मार्क्सवादी, यह अपनी तरह की है। गीता के कर्म और यज्ञ की अवधारणा को आप चाहें तो किरत (कृत्य) और लंगर में बदलकर खुश हो सकते हैं। संस्कृत साहित्य में देकर फिर भुला दिया गया है कि प्रत्येक, जन्म से शुद्ध होता है। कोई उसे भी शैतान में बदलकर बनाए रखता है।

सकाम और निष्काम भक्ति के अन्तर्गत ज्ञान तथा कर्म योग को लाया जा सकता है। हम चाहें तो उन्हें अलग-अलग जान लें स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों की आवश्यकतानुसार। कारण शरीर ईश्वरीय संकल्प से उत्पन्न माना गया है और मनुष्य की उपर्युक्त प्रकार की स्वाभाविक चेष्टाएँ निरुक्तिमय हो जाने में सार्थक।

जब हम, यदि सुविधा के अभ्यस्त हों तो—किसी मजहब के आधार ग्रन्थ स्वयं नहीं पढ़ते, न तदनुसार समझने का प्रयास करते हैं और उनके विषय में दूसरों की बातों में आ जाते हैं, समस्याएँ तब पैदा होती हैं। ऐसा ही हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में हुआ है। आदमी ने अपनी जड़ें खो दीं, अपनी उस आत्मा को खो दिया, जिसका उल्लेख गीता के दूसरे अध्याय के बाईसवें श्लोक में किया गया है। *‘वासांसि जीणानि*

यथा विहाय, नवानि गृह्णानि नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्याणि संयाति नवानि देही॥’ जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे, नए वस्त्रों को ग्रहण करता है। वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नए शरीरों को प्राप्त होती है। निःसंशय यह ऐसी आत्मा है जो बाहरी वेशभूषा, रंग और रूप बदल लेने पर भी नहीं बदलती।’ तेईसवाँ श्लोक देखिए! *‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापी न शोषयति मारुतः॥’* इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसको आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता।’ *‘अच्छेद्योऽयमहाघोऽपक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थावलोऽयं सनातनः॥’* और इस चौबीसवें श्लोक में स्पष्ट किया गया है : ‘यह आत्मा अच्छेद्य (न कटने वाली), अदाह्य (न जलने वाली), अक्लेद्य अशोष्य (न सूखने वाली), नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर और सनातन है।’

‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’ शरीर के नष्ट होने पर भी नहीं मरती, यह आत्मा अमर है। इस स्तर पर हिन्दुओं ने संसार को परमात्मा, ईश्वर तथा निहितार्थ की सोच दी। और चमत्कृत कर दिया, स्वार्थवश दूसरों ने अपने-अपने ईश्वर बना लिये, इससे अधिक प्रगति नहीं की। उन्होंने नया कुछ कहा या किया होता तो अवश्य आदमी के जेहन में उनकी कद्र-कीमत या अहमियत होती। इस तथ्य से आप आदमी के असहज, पक्षपाती, जुनूनी, कट्टर, गुलाम, हताश और हत्यारा होने की वजह जान सकते हैं। अब प्लेटो की कृति संवाद-प्रतिवाद, क्राइतो और फ्रैदो) पढ़ने के बाद आप यह दावा नहीं कर सकते कि सुकरात ने गीता नहीं पढ़ी होगी।

उसी आदमी के गुरुओं, पीरों और पैगम्बरों ने महर्षि वेदव्यास के इस कथन को भुला दिया : *‘गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं किञ्चित।’* फिर उनके खुदा प्रचार-प्रसार और शहीदियों के मोहताज तो होंगे ही।

यहाँ दूसरे मजहब आदमी की क्षुद्रता, शैतानियत या हीनता पर टिके हैं। वहाँ हिन्दू धर्म मनुष्य को ईश्वर की प्रतिमूर्ति सिद्ध करता है और घोषणा करता है : *‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।’* इस जग के कण-कण में ईश्वर विद्यमान है। फिर किसकी पूजा, किसकी इबादत, किसका पाठ और किससे प्रार्थना? ज्ञान मार्ग में उक्त प्रकार की गतिविधियों में मस्तिष्क और समय को नष्ट करने से रोका गया है, ताकि अपेक्षित रचनात्मक विकास सम्भव हो व्यक्ति तथा उसके समाज-संसार का या फिर उसकी पूजा उस की वस्तुओं से जैसे विनोबा जी कहते हैं।

उससे बड़ा मूर्ख और कोई नहीं हो सकता, जो मात्र यह समझता है कि हिन्दू केवल साकारवादी, मूर्तिपूजक, कर्मकाण्डी, बहु देवी-देवता पूजक ही है। निराकारवादी, कालातीत ईश्वर को शब्दों से परे माननेवाला, एक ईश्वर को माननेवाला हिन्दू है तो चार्वाक समर्थक, ईश्वर को न माननेवाला तथा नास्तिक भी हिन्दू है। कोई कर्मकाण्ड को करनेवाला हिन्दू है और कोई कर्मकाण्ड न करनेवाला। हिन्दू धर्म विशाल है, इतना

विशाल कि उसके अन्दर सभी धर्म-मजहब मत-पन्थ और सम्प्रदाय समा जाते हैं और पता भी नहीं चलता।

उसके आध्यात्मिक अवतारी स्त्री-पुरुष हैं, परन्तु कोई प्रवर्तक नहीं है। यह आदि सनातन धर्म है। उसका सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उद्गम एवं क्षय में उसके रचयिता अथवा सूत्रधार को प्रकट करता है। वह स्वयम् उसमें व्याप्त है। वह दृश्य है, यदि वैसा देखनेवाली आँखें नहीं हैं तो अदृश्य भी है।

यहाँ सकारात्मक ऊर्जा के लिए मन्त्र हैं तो नकारात्मक ऊर्जा के लिए भी तन्त्र है। विशेषताएँ हैं तो न्यूनताएँ और त्रुटियाँ भी हैं जिन्हें दूर करना है। उनसे भागकर हमें कोई नया मजहब या सम्प्रदाय नहीं बनाना है और न अपनाना है! इसलिए कि यह अन्यतम विवेक और स्वतन्त्रता का धर्म है जिसका विकल्प नहीं हो सकता।

सर्वविदित है :

धृति क्षमा दयो अस्तेयं शौच इन्द्रिय निग्रह।

धीः विद्या सत्य अक्रोधो, दशैकं धर्म लक्षणं॥

‘धारणेति धर्मः’ यहाँ नैतिकता के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में मनुष्य के स्वभाव अथवा उसकी प्रकृति को धर्म कहा गया है। विनोबा जी ने गीता प्रवचन में उसकी व्याख्या दी है। दो व्यक्तियों का स्वभाव, एक-सा नहीं हो सकता, अपना-अपना होता है। अतः उन्हें उसके अनुसार सदाचरण करना चाहिए! धर्म नहीं, मजहब या पन्थ बहुत सारे लोगों का एक हो सकता है। यही फर्क है पन्थ या मजहब और धर्म में। किन्हीं को पढ़ने से पहले इस तथ्य पर ध्यान देना होगा! यदि आप धर्म, पन्थ और मजहब को एक ही अर्थ में लेते रहे हों तो अवश्य, उन्हें समझने में दिक्कत आई होगी। आती भी क्यों न? जब धर्म का अर्थ मजहब या पन्थ लिया गया हो और लिया जाता रहा हो।

अधिकांश जन रूप-स्वरूप एक जैसा बना सकते हैं। उनके कर्मकाण्ड, जैसे अनुष्ठान वे करते हैं, एक जैसे हो सकते हैं। किसी किताब-ग्रन्थ को पवित्र मान सकते हैं। छल-प्रपंच रचने में एक हो सकते हैं। उनका संगठन एक हो सकता है। एक सम्प्रदाय हो सकता है; परन्तु स्वभाव एक नहीं हो सकता। दरअसल, धर्म का मजहब अर्थ है ही नहीं; पन्थ अर्थ है ही नहीं। मानवीय स्वभाव या प्रकृति को जातीय अर्थ में लेना चाहें तो भी उसे पन्थक या मजहबी आशय में नहीं लिया जा सकता। इसलिए मनुष्य, मनुष्य में भेद न माननेवाला सनातन धर्म, व्यक्ति को विचार तथा व्यवहार में स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वह रूढ़ या कट्टर नहीं और न कभी था। उसे हिन्दू-धर्म कहें या न कहें? जिन्हें यह समझ में नहीं आता, वे इसको बिना पूरा जाने उसकी त्रुटियाँ ढूँढ़ते हैं। उन्होंने ही उसका विरोध किया है और करते हैं, जिन्होंने उससे अलग होकर मजहब और मत-पन्थ बना लिए या अपना लिए। किस कपूत ने माँ की

सहिष्णुता एवं उदारता का उपहास नहीं उड़ाया? उसके कुछेक आडम्बर रचने और कर्मकाण्ड विधि-विधान से करनेवाले वर्ग-समूहों को देखकर अतिरिक्त अनुमान मत लगा लेना! विघटनकारियों ने कम हानि नहीं पहुँचाई। सत्य कहने के मामले में कोई समझौता नहीं। किसी दबाव से मिथ्यात्व का क्या लाभ जिससे इहलोक हास्यास्पद बनता हो और परलोक संदिग्ध या वायवीय? यही बात वर्तमान और भविष्य में कहें तो अधिक व्यावहारिक लगती है। संक्षेप में मनुष्य को अपना स्वभाव प्राप्त करना है! फिर मत-पन्थ या मजहब सब पीछे छूट जाएँगे। तब तक नैतिकता भी धर्म के वेश में निर्णायक भूमिकाएँ निभा चुकी होगी।

किसी मत-पन्थ या मजहब को लीजिए! उसका कोई-न-कोई प्रवर्तक होगा; पर हिन्दू धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं है। उसके अवतारी पुरुष हैं—राम है, कृष्ण है। शक्ति स्रोत हैं गौरी, सरस्वती तथा दुर्गा भवानी-चण्डी आदि। यहाँ पुरुष और प्रकृति क्या, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड धर्म की सनातनता में से प्रकट होता है। ऐसा और कहीं दिखाई नहीं देता। ईश्वर तीन रूपों में व्यक्त ब्रह्मा के रूप में रचयिता हो, विष्णु पालक और महेश संहारक। इन्हीं से उसका प्रसार होता है और इनमें विलय हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के तृतीय अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा गया है : *एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तत्स्थुर्य, इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनांतस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले, संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥* हिन्दू धर्म का एकमात्र एकमेव सर्वशक्तिमान ईश्वर अनेकों रूपों में साकार होता है, निराकार है और दोनों से परे है। वह ओं हैं, ओंकार है, अक्षर, शब्द, नाद और अनाहत नाद है। ज्ञात और अज्ञात है। व्यक्त और अव्यक्त सामर्थ्यवान है। कण-कण में व्याप्त है। कोई इसको स्वीकार कर प्रमाण के लिए मूर्ति गढ़ लेता है और उस पर ध्यान लगाता है। उसकी पूजा करता है। कोई निराकार की उपासना करता है और किसी को पूजने और न पूजने में भेद दिखाई नहीं देता। कोई एक-दूसरे से बढ़कर इबादतगाहों अथवा पूजास्थलों का निर्माण करता है। कोई उनमें से किसी की परवाह नहीं करता। अकेला चला जाता है जंगल में, पहाड़ों पर और खुले मन से जहाँ स्थान मिला। घर हो या बाहर समाधि लगाकर बैठ जाता है, जब समय हो या समय मिले। किसी का मन ही मन्दिर है। किसी-किसी का पूरा शरीर ईश्वर के अस्तित्व का प्रतीक है। कोई प्रेम, प्रार्थना, श्रद्धा और विश्वास पर स्थित है। यहाँ कई सत्य और अहिंसा की साधना करते हैं। कई प्रत्येक में ईश्वर को देखते हैं। सूर्य का प्रकाश जीवन का आधार है। इसलिए वह देवता है। पीपल रात-दिन ऑक्सीजन उत्सर्जित करता है। किसी के लिए वह पूज्य है। महिलाएँ उर्वरता के निमित्त उसकी परिक्रमा करती हैं। गंगा जी की सन्ध्याकालीन आरती में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से लोग हरिद्वार आते हैं। शंख की ध्वनि नकारात्मक ऊर्जा का नाश करती है और घड़ियाल की तरंगें हानिकारक अदृश्य कीट-कीटाणुओं का। कोई इस प्रकार हुए स्वस्थ विचार को परब्रह्म ईश्वर का स्वरूप मानता है और कोई उसके चिन्तन में

उसकी तलाश कर लेता है। कोई मुखर और कोई मौन। हिन्दू धर्म असीमित समुद्र है। उसमें अनेकों नदियाँ-नाले समा जाते हैं। उसमें से कितने और पन्थ-मजहब निकालते जाइए! उसमें कमी नहीं आती, बल्कि मनुष्य सामर्थ्य और दायित्व ग्रहण कर लेता। उसकी त्रुटियाँ या न्यूनताएँ ढूँढ़नेवाले उसे आधा-अधूरा जानते हैं। यह समझ लीजिए, वे अँधेरे में भटक रहे हैं। उस पर हवाई आरोप लगा रहे हैं कि हिन्दू धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं है। उनकी तरह का है भी नहीं। उन्होंने एक-दूसरे के भरोसे नरक में जाने का प्रबन्ध कर लिया है। मिथ्या आरोप लगाना निम्न स्तर पर आ जाने के तुल्य ही तो है। दुःख की बात है, वे अपनी सन्ततियों को भी नहीं बख्श रहे। इस स्तर पर उदर की राजनीति में आदमी, आदमी की अलग पहचान बना देना, एक समुदाय को दूसरे से अलग करना और फिर उस पर मजहबी दावा करना मनुष्य जाति के प्रति घोरतम अपराध है। इधर, हिन्दू धर्म में मनुष्य के जन्म लेने का उद्देश्य और सार्थकता परमपुरुष परब्रह्म की प्राप्ति है। वह उसके हृदय-प्रदेश में आत्मा के स्वरूप में निवास करता है। यही उपनिषदों ने कहा है कि अच्छा व्यक्ति स्वयं ईश्वर है। क्योंकि बुरा व्यक्ति स्वयं बुरा है। उसको ईश्वर नहीं बनाता। इति, भ्रष्ट स्वयं भ्रष्ट है।

साहित्य और संचार-माध्यमों की भाषा में अन्तर : चुनौतियाँ और समाधान

नरेन्द्र कोहली*

1. साहित्य और संचार माध्यमों के समान आधार विषय, चिन्तन भी हो सकते हैं; किन्तु वे अनिवार्य नहीं हैं। उन दोनों का समान और अनिवार्य आधार तो भाषा ही है। भाषा के अभाव में उन दोनों का ही कोई अस्तित्व नहीं है।

2. साहित्य की भाषा व्याकरण, काव्यशास्त्र और भाषा विज्ञान तथा कुछ अन्य उपकरणों की भट्टियों में तपी हुई भाषा है। यह भाषा किसी वर्ग विशेष, समाज विशेष अथवा काल विशेष के लिए नहीं होती। वह प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज के सहृदय के लिए होती है। इसको पढ़कर पाठक भाषा सीखता है; अपनी भाषा को समृद्ध करता है; और अपना संस्कार करता है।

3. एक युग था कि समाचार-पत्रों और साहित्य की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं था; क्योंकि तब पत्रकारिता और साहित्य में कोई दूरी भी नहीं थी। तब समाचार-पत्रों के माध्यम से साहित्य पाठक तक पहुँचा भी था। पत्रकारिता में राजनीति का महत्व तब भी था, किन्तु वह राष्ट्रीय राजनीति थी और वह साहित्य की न विरोधी थी, न उससे दूर थी।

4. क्रमशः पत्रकारिता का विस्तार और विकास हुआ। उसमें अनेक नए आयाम जुड़ते चले गए। अर्थ जगत्, बाजार जगत्, खेल जगत्, विज्ञान जगत्, कानून जगत्, अपराध जगत्, सिनेमा और कला जगत् इत्यादि। ये सब साहित्य का बहिष्कार करते गए और अपने लिए नई भाषा भी गढ़ते गए। उनको एक भिन्न प्रकार की शब्दावली की आवश्यकता थी भी। यदि यह काम सही दिशा में किया गया होता तो हम उसे भाषा का विकास भी कह सकते थे।

5. किन्तु अब हम जहाँ खड़े हैं, वह हिन्दी भाषा की दुर्दशा का परिदृश्य है।

* नरेन्द्र कोहली 175, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

(क)– संचार माध्यमों में व्याकरण विलुप्त होने की स्थिति में है। काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान और परिणामतः साहित्य का तो अस्तित्व ही नहीं है। जहाँ सम्पादक से अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली मार्किटिंग मैनेजर हो जाए, वहाँ साहित्य की स्थिति शोचनीय हो ही जाती है।

(ख)–हिन्दी की शब्द-सम्पदा अत्यन्त सीमित कर दी गई है। समग्र दृष्टि से उसमें अंग्रेज़ी और फारसी के इतने शब्द अकारण और तर्कशून्य ढंग से ठूस दिए गए हैं कि उस भाषा में हिन्दी के शब्द खोजने पड़ते हैं। “फ्रेशर्स डे पर लगो ग्रेट, जब बाल हो परफेक्ट स्ट्रेट। कटेंट ही किंग है। इसमें कुछ शब्द हिन्दी के भी हैं। स्पष्ट है कि ये शीर्षक उन लोगों के द्वारा लिखे गए हैं, जिन्हें हिन्दी नहीं आती। सम्भव है अंग्रेज़ी के ज्ञान के अभाव में ही वे इन्हें हिन्दी रूप न दे पाए हों।

(ग)–कई बार अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अभाव और उसकी तर्कशून्यता बहुत खटकती है। हमारा समाचार-पत्र यह नहीं लिखता कि “एक व्यक्ति ने हत्या की।” वह लिखता है कि “कातिल ने मौकाए वारदात पर कत्ल की वारदात को अंजाम दिया।” यह “अंजाम देना” तो ऐसा सिर चढ़कर बोल रहा है कि कत्ल को भी अंजाम दिया जाता है, दुष्कर्म को भी अंजाम दिया जाता है, कम्प्यूटर के सॉफ्टवेयर को भी अंजाम दिया जाता है। माता-पिता की सेवा को भी अंजाम दिया जाता है। बहन राखी नहीं बाँधती, रक्षाबन्धन के त्यौहार को अंजाम देती है। इससे हत्या, बलात्कार, सृजन जैसे शब्द विलुप्त हो गए हैं। (दैनिक जागरण यह नहीं लिखता कि मृतक के वस्त्र उसके मल में सने हुए थे। वह लिखता है कि मरने वाले व्यक्ति ने अपनी पैंट में पोटी कर दी थी।) मिलना, साक्षात्कार करना, दर्शन करना, जानना, परिचित होना, ये सारे शब्द खो गए हैं, अब केवल रूबरू होते हैं। आज ही पढ़ा, पाँच हज़ार वर्ष पुरानी नृत्य शैली से दर्शक रूबरू होंगे।

(घ)–मैं जानता हूँ कि अनेक विद्वान यह मानते हैं कि हमारी भाषा में जितने विदेशी शब्द आएँगे, हिन्दी उतनी ही समृद्ध होगी। अन्य भाषाओं के आवश्यक शब्द हमारे लिए वरदान हो सकते हैं; किन्तु अपने हीरे जैसे शब्दों को कूड़ेदान में डालकर अधपढ़, अनपढ़ लोगों द्वारा दूसरी भाषाओं के अनुपयुक्त और गलत शब्द ले लेने से कोई भाषा समृद्ध नहीं होती। ऐसा वे लोग ही चाहते हैं, जो जाने-अनजाने हिन्दी की अस्मिता को समाप्त करना चाहते हैं। वे विद्वान हो सकते हैं किन्तु, चिन्तक नहीं हैं। वे हिन्दी के स्वाभाविक रूप को तो विकृत करना ही चाहते हैं। उसकी अपनी शब्दावली को विलुप्त करना भी चाहते हैं। किन्तु अनेक विद्वान यह भी तो मानते हैं कि हिन्दी की आवश्यकता ही क्या है। अंग्रेज़ी से ही काम चला लीजिए। उसे भी एक भारतीय भाषा मान लीजिए। देवनागरी पर सिर क्यों मारते हैं। हिन्दी को रोमन लिपि में लिख लीजिए। हिन्दी को हिंग्लिश बना लीजिए। किन्तु ये सिद्धांत हिन्दी की रक्षा और उसके विकास के लिए नहीं, उसे नष्ट करने के लिए हैं; और उन विद्वानों की ओर

से आए हैं, जो हिन्दी के हितैषी नहीं हैं। उनके अपने निहित स्वार्थ हो सकते हैं। यह उनका अज्ञान भी हो सकता है।

6. आज शुद्ध हिन्दी लिखनेवाले लोगों को खोजना पड़ता है। शुद्ध से मेरा तात्पर्य व्याकरण, वर्तनी तथा उच्चारण तक सीमित है। विलुप्त शब्दों को अकारण लिखना और भाषा के प्रवाह को बिगाड़ना भाषा की शुद्धता का पर्याय नहीं है। जैसे वनों में बाघ कम हो गए हैं, अतः उनके संरक्षण की आवश्यकता पड़ गई है, वैसे ही शुद्ध हिन्दी लिखनेवाले भी कम हो गए हैं और उनको अभयारण्य की आवश्यकता पड़ गई है।

7. अब हम इस स्थिति का कारण खोजें।

(क)–संचार माध्यमों के स्वामी और उनसे वेतन लेकर बिक्री और विज्ञापन का काम देखने वाले कर्मचारी यह चाहते हैं कि हिन्दी क्रमशः समाप्त हो जाए। मुख्य सम्पादकों की स्थिति वे ही जानें, किन्तु सामान्य पत्रकारों को इतना कम वेतन दिया जाता है कि कोई पढ़ा-लिखा आदमी वहाँ काम ही नहीं करना चाहता।

(ख)–समाचार-पत्र पढ़कर अथवा दृश्य माध्यमों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि संचार माध्यमों में काम करनेवाले पत्रकार या तो अंग्रेज़ी पढ़कर आए हैं या फिर उर्दू। जो हिन्दी पढ़कर आए हैं, उनके पास डिग्री चाहे कोई भी हो, किन्तु हिन्दी का उनका ज्ञान आठवीं फ़ेल व्यक्ति के समकक्ष है। उनमें ढंग से हिन्दी पढ़े-लिखे लोग बहुत कम हैं।

8. अब प्रश्न है कि इस देश में अपनी भाषाएँ क्यों नहीं पढ़ी जा रही? अपनी मातृभाषा को भी लोग शुद्ध रूप से लिख-पढ़ सक क्यों नहीं रहे।

(क)–हमारा देश संसार के उन इने-गिने देशों में से एक है, जहाँ सारे विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा एक विदेशी भाषा, अंग्रेज़ी में दी जाती है। चूँकि उच्च शिक्षा अंग्रेज़ी में है, इसलिए बच्चों के अभिभावक चाहते हैं कि उनके बच्चे जन्म लेते ही अंग्रेज़ी पढ़ने लगें। उनका वश नहीं चलता नहीं तो वे बच्चे को माँ के गर्भ में ही अंग्रेज़ी पढ़ा दें। उन्हें कोई भारतीय भाषा आए या न आए किन्तु उन्हें अंग्रेज़ी अच्छी तरह आनी चाहिए; क्योंकि हमारे यहाँ अंग्रेज़ी जाननेवाले व्यक्ति को अच्छी नौकरी मिलती है, उसको अच्छा वेतन मिलता है और समाज में उसका सम्मान होता है। अतः हमारे तथाकथित पढ़े-लिखे लोग भारतीय भाषाओं में काम करने के लिए अयोग्य हो जाते हैं।

हमारे अभिभावक यह भी नहीं मानते कि उनके बच्चे दो भाषाएँ सीख सकते हैं। वे केवल एक भाषा चाहते हैं और वह अंग्रेज़ी है।

(ख)–हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी है कि आठवीं कक्षा में बच्चे से कहा जाता है कि वह अंग्रेज़ी, हिन्दी और संस्कृत में से एक भाषा चुन ले। स्पष्ट है कि ऐसे में बच्चों के अभिभावक अंग्रेज़ी को चुनते हैं और यदि सम्भव हो तो उसके साथ फ्रांसीसी और

जर्मन पढ़ते हैं। अंग्रेजी माध्यम का अर्थ होता है कि अर्थशास्त्र पढ़ना हो, तब भी अंग्रेजी को घोटो, भौतिकशास्त्र पढ़ना हो तो भी अंग्रेजी ही पढ़ो। जब नौ विषय अंग्रेजी में पढ़ने हैं तो दसवाँ विषय हिन्दी व्यर्थ का-सा लगने लगता है और पहले ही अवसर पर हिन्दी की पढ़ाई बन्द कर देता है।

(ग)—अनेक स्थानों पर बिना परीक्षा के अगली कक्षा में भेज देने का प्रचलन है। ऐसे में छात्र भाषा की अशुद्धता के साथ आगे बढ़ता है। भविष्य में वही अध्यापक बनता है और वही अगली पीढ़ियों को पढ़ाता है।

(घ)—इसका अर्थ है कि हमारी सरकार, हमारे विश्वविद्यालय और हमारे अन्य शिक्षण संस्थान नहीं चाहते कि इस देश में कोई व्यक्ति भारतीय भाषाओं के माध्यम से सम्मानजनक आजीविका प्राप्त करे। वे नहीं चाहते कि इस देश में अंग्रेजी न जानने वाला व्यक्ति कहीं भी अपनी बात कह सके अथवा न्यायालयों अथवा विश्वविद्यालयों में अपने विषय में कही गई बात को समझ सके।

(ङ)—लोगों ने मान लिया कि आजीविका की भाषा अंग्रेजी है। कोई यह प्रश्न करने का साहस नहीं करता कि इस देश में आजीविका की भाषा भारतीय भाषाएँ क्यों नहीं हैं? कुछ भोले लोग यह मानते हैं कि हमारे लोगों की अपनी पसन्द ही अंग्रेजी है। उन्हें पता नहीं है कि तुर्कों ने आकर यहाँ फारसी प्रचलित की थी। वह हमारी पसन्द नहीं थी। अंग्रेजों ने फारसी को हटाकर अंग्रेजी प्रचलित की, वह भी हमारी पसन्द नहीं थी। इसमें लोगों की पसंद का प्रश्न ही नहीं है। यह शासकों की देन है।

9. इन स्थितियों में हम कैसे यह अपेक्षा कर सकते हैं कि हमारे संचार माध्यमों की भाषा पढ़े-लिखे लोगों की हिन्दी होगी।

(क)—बोल-चाल की भाषा के नाम पर हिन्दी को भ्रष्ट और ध्वस्त किया जा रहा है। शब्दों का प्रचलन, संचार माध्यम करते हैं और आरोप यह है कि बोलचाल की भाषा यही है। लोग इसी भाषा को समझते हैं। हमारे संचार माध्यम अंग्रेजी के “लाइन ऑफ कंट्रोल” के संक्षिप्त रूप एल.ओ.सी. को हिन्दी में लोसी लिखते हैं। जिसका अर्थ कोई भी शब्दकोश “नियन्त्रण रेखा नहीं बता सकता। डी.यू. लिख और पढ़कर हम उससे दिल्ली विश्वविद्यालय कैसे सीख सकते हैं। वे दिल्ली को प्रदेश नहीं सूबा लिखते हैं। शासन को हुकूमत और राजनीति को सियासत लिखते हैं। वे नहीं जानते हैं कि ‘नवाज़ना’ का अर्थ कृपा करना है। अतः बड़े-से-बड़े व्यक्ति को ‘सम्मान से नवाज़ते’ हैं। ‘खिलाफत’ का अर्थ खलीफा का राज्य होता है, किन्तु वे किसी की भी खिलाफत में खड़े हो जाते हैं। बेचारे नहीं जानते कि विरोध के लिए अरबी शब्द मुखालफत होता है। किन्तु ‘विरोध’ शब्द से उनका क्या विरोध है, मैं आज तक समझ नहीं पाया। ऐसे उदाहरण घंटों दिए जा सकते हैं। उनकी इस भाषा को लाहौर, पेशावर, काबुल और दुबई में तो समझा जा सकता है किन्तु बंगाल, ओड़िशा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, और केरल में नहीं समझा जा सकता।

(ख)—भाषा बोल-चालकर नहीं, पढ़-लिखकर सीखी जाती है। बोलचाल की भाषा के नाम पर किसी भी भाषा को अनपढ़ लोगों की कृपा पर छोड़ देना उस भाषा के हित में नहीं है।

इन समस्याओं का समाधान शासन के पास है। माओत्सेतुंग और मुस्तफा कमाल पाशा ने अपने देशों में इस समस्या को एक दिन में सुलझा दिया था। किन्तु हमारी सरकार का ध्यान इस ओर नहीं है। पिछले अड़सठ वर्षों से तो नहीं है। मैं जानता हूँ कि सरकार यदि अपनी शिक्षा-नीति नहीं सुधारती है तो एक दिन देश का जन सामान्य उठेगा और अपने देश के हित में अनुकूल नीति को स्थापित कर लेगा। कोई भी शक्ति किसी देश को कब तक भाषाई दास बनाए रख सकती है।

हिन्दी का बिगड़ता स्वरूप एवं विसंस्कृतिकरण का खतरा

ब्रज बिहारी कुमार

भारत एक भाषा क्षेत्र (Language zone) है। हमारी भाषाओं में जोड़नेवाले तत्त्व अनेक हैं, उनकी आपसी समानता बहु-आयामी है। कश्मीरी एवं खाशी के अतिरिक्त भारत की सभी भाषाओं की वाक्य-संरचना 'कर्ता-कर्म-क्रिया' के क्रम का पालन करती हैं। कश्मीरी एवं खाशी वाक्यों में अंग्रेजी की तरह 'कर्ता-क्रिया-कर्म' का क्रम चलता है। इसके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं की समान शब्द-संपदा भी इन्हें एक दूसरे से जोड़ती है, उनके आपस की बोध-गम्यता को बढ़ाती है। जहाँ तक समान शब्द-सम्पदा का सवाल है, वह न केवल भारत की भाषाओं को जोड़ती है, बल्कि दक्षिण-पूर्व एशिया की भाषाओं को भी हमसे जोड़ती है। आर्य-द्रविड़ भाषाओं के अतिरिक्त मुण्डा-आग्नेय एवं भारत की तिब्बती बर्मी/किरात वर्ग की भाषाओं में समस्रोत्रीय शब्दावली का प्रतिशत काफी अधिक है, जो उन्हें अन्य भाषा परिवार की भाषाओं से जोड़ता है। यहाँ मैं इस बात का उल्लेख करना चाहूँगा कि हिन्दी तथा मणिपुरी, त्रिपुरी, खाशी, बोड़ो, दिमासा कछारी, सन्ताली, मुण्डा तथा उराँव भाषाओं की समस्रोत्रीय शब्दावली पर तो मेरा अपना भी प्रकाशित कार्य है।

भारत में बोली जानेवाली भाषाओं एवं भाषा परिवारों ने एक-दूसरे को लगातार प्रभावित किया है और इस प्रभाव से अछूती वे भाषाएँ या भाषा परिवार भी नहीं हैं, जो देश के किसी कोने में अलग-थलग पड़े दिखाई देते हैं। उदाहरण-स्वरूप हम तिब्बत/चीन एवं बर्मी सीमाओं की भाषाओं पर पड़े मुण्डा भाषा वर्ग के प्रभाव को ले सकते हैं। हम जानते हैं कि मुण्डा-वर्ग की भाषाएँ — मुण्डा, सन्ताली, हो, आदि — झारखण्ड, बिहार, ओड़िशा, एवं पश्चिम बंगाल में बोली जाती हैं। इनकी कुछ विशेषताएँ हैं, जैसे—गणना में बीस का इकाई के रूप में प्रयोग, सर्वनाम हम के दो रूपों का प्रचलन, उच्चारण के बीच स्वर का एकाएक अवरुद्ध होना। ये प्रवृत्तियाँ हिमालय क्षेत्र की कई भाषाओं, जैसे—चांग, सांगतम, अंगामी भाषाओं में भी पाई

जाती हैं। बँगला में बीस के लिए 'कुड़ी' शब्द प्रयुक्त होता है। कई द्रविड़ भाषाओं में श्रोता-सहित 'हम' तथा श्रोता-रहित 'हम' प्रयुक्त होता है। यहाँ मैं एक दिन-दिन बढ़ती खतरनाक प्रवृत्ति का उल्लेख करना चाहूँगा, जिसके तहत हमारे लेखक अपने लेखन में भाषा में प्रयुक्त तत्सम शब्दों का बहिष्कार एवं उसके स्थान पर अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। छिटपुट रूप से रोमन देवनागरी को स्थानान्तरित करती जा रही है। इस प्रवृत्ति को सरकारी तन्त्र एवं मीडिया का बढ़ावा भी मिल रहा है।

दोगली भाषा, दोगली संस्कृति

आज से लगभग 30-35 साल पहले मैंने 'धर्मयुग' में एक लेख पढ़ा था, जिसमें एक शब्द का प्रयोग मुझे बहुत खटका था। वह शब्द था 'इंटेलैक्चुअलता'। अंग्रेजी शब्द इंटेलैक्चुअल (Intellectual, बौद्धिक) में हिन्दी प्रत्यय 'ता' लगाकर बना बौद्धिकता का पर्यायवाची शब्द। धीरे-धीरे ऐसे शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया; हिन्दी में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से होने लगा। अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग-कर्ता यह मानकर चलने लगे कि देवनागरी लिप्यन्तरण मात्र से अंग्रेजी के शब्द हिन्दी के बन जाते हैं। फिर सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ाना देने के नाम पर नेहरू की सरकार ने देवनागरी में लिखे अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की पूरी छूट दे दी। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन ने इस विकृति को और आगे बढ़ाया। हिन्दी के नाम पर एक दोगली भाषा का प्रयोग धड़ल्ले से होने लगा, यह भूलकर कि दोगली भाषा दोगली संस्कृति की वाहक होती है। आकाशवाणी तो कम, लेकिन दूरदर्शन की भाषा तो पूरी तरह से भ्रष्ट हो गई; हिन्दी के नाम पर वह ऐसी भाषा बन गई, जिसे पिङ्गल या क्रेयोल कहा जा सकता है। फिर दूरदर्शन ने अगला चरण उठाया। फिल्मों आदि की शुरुआती जानकारी जो देवनागरी में दी जाती थी, उसके लिए रोमन का प्रयोग होने लगा। फिर अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपनी सीमा रेखा पारकर आगे बढ़ी; अंग्रेजी शब्द अंग्रेजी व्याकरण का छिटपुट प्रयोग करते हुए प्रयुक्त होने लगे; जैसे 'स्कूलों' के स्थान पर 'स्कूल्स' का प्रयोग।

वैसे विश्व की सभी भाषाएँ दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करती हैं और विकसित होती हैं। अंग्रेजी में ऐसा सर्वाधिक हुआ है। उस भाषा में दूसरी भाषाओं से आगत शब्दों की संख्या विश्व की किसी भी भाषा की तुलना में अधिक है। हिन्दी में भी अंग्रेजी, अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं से आये शब्दों की संख्या हजारों में है। आगत शब्दों को ग्रहण करने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक होता है, जो निम्नलिखित हैं :

1. शब्द ग्रहण करनेवाली भाषा में आगत शब्दों के लिए अपने शब्द नहीं हों।

2. आगत शब्दों पर शब्द ग्रहण करनेवाली भाषा के ध्वनि नियम लागू होते हैं और वे शब्द उस भाषा में रच-पच जाते हैं।

3. आगत शब्द उस भाषा के व्याकरण के अनुसार प्रयुक्त होते हैं।

दुःखद है कि हिन्दी भाषा में इन बातों का पालन नहीं किया जा रहा है। इस बात को भुलाया जा रहा है कि भारतीय भाषाओं का साहित्य अत्यन्त प्राचीन तथा समृद्ध रहा है। यही बात इन भाषाओं की शब्द संपदा के विषय में भी कही जा सकती है। दुर्भाग्य की बात है कि अपनी समृद्ध शब्द-सम्पदा के होते हुए भी हमारी भाषाओं, विशेषतः हिन्दी में अंग्रेजी, फारसी एवं अरबी शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से किया जाने लगा है। हिन्दी बोलते या लिखते समय अंग्रेजी शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग से इस भाषा का स्वरूप विकृत होता जा रहा है। भाषायी अराजकता तेजी से फैल रही है।

स्थिति भयावह है। आनेवाली पीढ़ी के लिए अपनी भाषायी पहचान खोने का खतरा वास्तविक होता जा रहा है। समस्या का निदान आवश्यक है। हिन्दी में इस भाषायी अराजकता के कुछ कारण नीचे दिए जा रहे हैं :

1. *हिन्दी लेखकों एवं संपादकों की काहिली* : लेखक कुछ लिखने या बोलने के समय अपने दिमाग पर जोर देना नहीं चाहते; वे आलस्यग्रस्त रहते हैं। सम्पादक को जो कुछ मिलता है, भाषा पर ध्यान न देकर वह उसे छाप देता है।
2. *हिन्दी लेखकों की तीव्र हीनता-ग्रन्थि* : उनमें यह दिखाने की प्रबल इच्छा होती है कि वे अंग्रेजी भी जानते हैं। कई लेखक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते समय यथा-सम्भव अंग्रेजी उच्चारण की नकल तथा उस भाषा के कुछ व्याकरण के नियमों का परिपालन करते हैं; कभी-कभी वे अंग्रेजी का पूरा वाक्य लिख जाते हैं।
3. *लिपि एवं भाषा के विभेद को भुलाया जा रहा है*। इस बात को ध्यान में नहीं रखा जा रहा है कि देवनागरी लिप्यन्तरण से कोई शब्द हिन्दी का नहीं हो जाता है।
4. समाचार माध्यमों — अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन — में भाषा नीति का अभाव भी हिन्दी की दुर्दशा का प्रमुख कारण है; समाचार माध्यम लगातार इस भाषा का स्वरूप बिगाड़ रहे हैं। दूरदर्शन में देवनागरी में दिए शीर्षक को हटाकर हिन्दी फिल्मों/धारावाहिकों तक के शीर्षक रोमन लिपि में देने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।
5. वामपन्थी रुझान के लेखक/पत्रिकाएँ अनावश्यक रूप से कठिन विदेशी शब्दों का प्रयोग तथा प्रचलित शब्दों का तद्भविकरण करती हैं। इस देश का पढ़ा-लिखा वर्ग अपने बच्चों को हिन्दी सिखाने पर बल नहीं देता। उसका भ्रम है कि मातृभाषा सीखी नहीं जाती, स्वयं आ जाती है। देश के

जागरूक तबके को तो कम-से-कम इस बात को स्वीकार करके उसे कार्यरूप देना ही चाहिए कि मातृभाषा भी सीखी जाती है। हिन्दी भी सीखी ही जानी चाहिए।

6. एक षड्यन्त्र के तहत संस्कृत भाषा एवं संस्कृत साहित्य के अध्ययन से हमें दूर किया जा रहा है। इसे साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जा रहा है। खतरा है कि संस्कृत एवं देवनागरी लिपि से कट कर हमारे बच्चे अपनी संस्कृतिक, साहित्यिक दाय का लाभ लेने से बहुत शीघ्र वंचित हो जाएँगे।

समाज का नव-धनाढ्य तथा अंग्रेजी शिक्षितों का बहुत बड़ा वर्ग अपनी पहचान खोने के आत्म-सम्मोहन से ग्रस्त है। शेष समाज, उसकी भाषा, लोक-जीवन, लोक-संस्कृति, परम्परा आदि से उसकी दूरी, उसके सम्मान एवं आधुनिकता का मापदण्ड बनती जा रही है। इस घातक प्रवृत्ति पर लगाम लगाना आवश्यक है।

इस गलत काम में सरकारी पैसे से चलने वाली संस्थाओं की सहभागिता दुःखद रही है। इस सन्दर्भ में जनता के पैसे से चलनेवाले केन्द्र सरकार द्वारा स्थापित महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय द्वारा तैयार कराया गया एवं भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'वर्धा हिन्दी शब्दकोश' का उल्लेख आवश्यक है। इस कोश द्वारा बड़ी संख्या में तत्सम शब्दों का बहिष्कार एवं इसमें अनावश्यक अंग्रेजी शब्दों की भरमार आश्चर्य एवं चिन्ता पैदा करती है। सभी हिन्दी एवं संस्कृत कोशों में प्रयुक्त पहला शब्द 'अंक' ही इस कोश से गायब है, लेकिन अंग्रेजी के नम्बर, फिगर, काउंट, प्वाइंट नहीं। इस कोश में आए कुछ अंग्रेजी शब्दों पर ध्यान दें :

अंडरस्टैंडिंग, अटैच, अपीलिंग, अरेस्ट, अर्बन, असेसर, आइसवर्ग, इंजील, इंटलेक्चुअल, इंट्रोडक्शन, इंडिकेशन, इंडेथ, डबलटन, हेल्थ, हेमीस्फियर, हीलियम, हारवेस्टर, स्पैनर, स्पेड, स्प्रेयर, स्क्रेप, स्किपर, कॉड, लिबरेशन, लिबिडो, लाइवल, रूटीन, रियु, रिलीफ, रिफार्म, रिफार्मर, रिफार्मेंटरी, मैन, मैटर्न, बैकयार्ड, फीलिंग, फील्डवर्क, फीचर, फिक्शन, प्रोटोप्लाज्म, प्रोटेक्शन, इमेटाइजेशन, ड्रीमगर्ल, ड्रेन, ड्रिंक, डेमोक्रेसी, डेफिनिशन, डिस्क्रिप्शन, डिजॉल्व, डि-रेगुलेशन, ट्रीटमेंट, क्रॉनिक, क्लासिफिकेशन, क्लाइमेट, कामर्सियलाइजेशन, कैजुअल्टी, हॉट, ऑनर; पत्रकारिता में प्रयोग होनेवाले बेशुमार अंग्रेजी शब्द हेडिंग, स्पीड न्यूज, ब्रेकिंग न्यूज, न्यूज सेन्स, न्यूज वेल्यू, एंकर, टाइपफेस, डेडलाइन, ड्रॉप लेटर, ऐंबार्गो, ऐड, ऑन द स्पोर्ट कवरेज, ब्रांड इमेज, ब्रॉडकास्ट जर्नलिज्म, बैक स्टोरी इंटरप्रेटर, इनसालवेशिता, इंस, आदि। कोश में 'ऑ' के तहत तो सारे-के-सारे चालीस शब्द अंग्रेजी के ही हैं!

यह कोश अंग्रेजी के शब्दों के हिन्दी में प्रयोग को अबाध स्वीकृति देता है, यद्यपि इनके लिए हिन्दी में सहज, सदा प्रयोग में आनेवाले तथा समानार्थक शब्दों की

भरमार है। फिर कोश की पीठ पर निर्लज्जतापूर्वक उद्धोषणा की गई है कि “अंग्रेजी शब्दों के सम्बन्ध में हिन्दी शब्दकोशों में फैली अराजकता से ‘वर्धा हिन्दी शब्दकोश’ मुक्त है।”

इस कोश के ‘प्रेरणा स्रोत’ विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त कुलपति विभूतिनारायण राय रहे हैं; सम्पादक मंडल में निर्मला जैन एवं गंगा प्रसाद विमल का भी नाम है। कोश से संस्कृत/तत्सम शब्दों के बहिष्कार का राज समझने के लिए उसके ‘प्रेरणा स्रोत’ का विचार जानना आवश्यक है। श्री राय लिखते हैं : “प्रामाणिक शब्दकोशों के निर्माण में संस्कृत को लेकर विशेष आग्रह इसी कारण दिखाई देता है।

“खड़ी बोली से हिन्दी बनने की प्रक्रिया काफी समावेशी थी।”

“इसके बावजूद तत्कालीन समाज में बढ़ रही साम्प्रदायिक चेतना के कारण बड़ी संख्या में भाषाविदों और रचनाकारों द्वारा प्रयास किया गया कि खड़ी बोली संस्कृतनिष्ठ बने और जहाँ तक सम्भव हो उसमें अरबी एवं फारसी के शब्द कम-से-कम इस्तेमाल किए जाएँ।”

यहाँ भाषा को साम्प्रदायिकता के दायरे में लाने से उपजी विकृत एवं रुग्ण सोच से उपजा संस्कृत द्रोह तो समझ में आता है, जो भारतीय मार्क्सवादियों/कम्युनिस्टों की जानी-मानी कमजोरी है, लेकिन अंग्रेजी शब्दों को ठूसकर हिन्दी के स्वरूप बिगाड़ने की बात नहीं। फिर एक विचारधारा के तहत भाषायी विकृति को भाषायी विकास का नाम देना और सर्व-साधारण की समझ की भाषा के प्रयोग के नाम पर भाषायी विकृति को स्वीकृति देना घातक प्रक्रिया है; जिसे रोका जाना चाहिए।

शब्द, मन और साहित्य

डॉ. नन्दलाल मेहता ‘वागीश’*

सृष्टि के आधारभूत परमाणुओं की संरचना, गति-आगति, शक्ति और परस्पर-परिणामी संचलन की स्वयंपूर्णता के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान के अद्यतन अनुसन्धानों ने सृष्टि-चिन्तन की भारतीय अवधारणाओं को कहीं गहरे तक सदृशमानित और समर्थित किया है। भारतीय चिन्तन-दृष्टि में पदार्थ और चेतना एक ही सत्ता के दो आयाम हैं। पदार्थ लक्षित है, पर चेतना अलक्षित है। इधर आधुनिक विज्ञान ने भी दोनों के दृश्यमान पार्थक्य के परे जाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि सर्वत्र एक ही ऊर्जा की कणिकाएँ स्पन्दित हो रही हैं। दोनों की अस्तिमानता के भिन्न-भिन्न दिखाई देनेवाले लक्षण तत्त्वतः अभिन्न हैं और यह भी कि दोनों स्वयं में पूर्ण हैं। इसलिए उपनिषदकार ऋषि का कथन है—

ॐ पूर्णमिदं पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

एवमृगते, तत्त्वतः अभिन्नता के होने पर भी जगत के गति-बोध के लिए द्वैत जरूरी है। ऐसा न हो तो मानवीय व्यवहार और संवाद के पथ अवरुद्ध हो जाएँ।

संवाद स्वयं में द्वैत का सूचक है। संवाद के एक सिरे पर वाक् और दूसरे सिरे पर श्रुति (श्रव्यता) अनिवार्य है। स्थान बदल सकते हैं, किन्तु वाक् और श्रुति की परस्परता तो घटित होगी ही। वाक् आकाशीय समष्टि से ध्वनि, नाद और शब्द-रूप में विद्यमान हैं। विद्वद्जनों का मानना है कि यह नाद ओंकार (ॐ) रूप में सृष्टि का आद्य ध्वनन-विस्फोट है और इसी रूप से आकाश में आज भी ध्वननशील है। ओंकार

* डॉ. नन्दलाल मेहता वागीश, पी-एच.डी, डी. लिट्, (लेखक-समीक्षक- भाषाचिन्तक), पूर्व सीनियर फेलो (Senior Fellow), संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार
शब्दालोक-1218 सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव (हरियाणा), दूरभाष-0124-4077218,
संचलवाक-991043169, प्रान्तीय अध्यक्ष—अखिल भारतीय साहित्य परिषद् हरियाणा।

नाद भी है और स्वयं में श्रुति भी। यह संसार, वाक् और श्रुति के इसी भेदाभेद-सम्बन्धों की क्रियार्थक अभिव्यक्ति है।

संवाद के दोनों सिरों पर उच्चार्य-श्रव्य वाक् को आज विज्ञान ने मनोभाव सहित परिवेश की उपस्थिति में दृश्यमान कर दिखाया है। संवाद-सम्प्रेषण तथा संचार के सर्वव्यापक शक्तिशाली संसाधनों और उसकी तत्काल-परिणामी गति ने मनुष्य की मनोरचना, चिन्तन, व्यवहार बुद्धि के आशयों एवं वाक्-क्षेत्रीय प्रयोजनों और आयामों को अभूतपूर्व विस्तार दिया है। कहाँ कभी कठिनलब्ध दूरभाषिक उपकरण और कहाँ वाई-फाई तकनीक की वैश्विकता का संसार। आधुनिक विज्ञान ने एक कदम आगे बढ़कर वाक्-श्रुति को अंकाधीन कर दिया है। यहाँ तक कि श्रुत ध्वनि के आधार पर ही वक्ता का रूपांकन भी सम्भव कर दिखाया है। दृष्टि का विषय हो जाने पर भी रूपांकन का यह सम्प्रेषण-बोध तो वाक् पर ही आश्रित है।

भारत में श्रुति को महत्त्व दिया गया है। कारण, वाक् भी श्रुति में ही समाहित है, पर यूरोप में प्रत्यक्ष वस्तु-बोध के कारण, दृष्टि का ही प्राधान्य है। इसलिए वहाँ दार्शनिक चिन्तन की आधारलतिका भी मुख्य रूप से दृष्टि सत्ता-परिसर में ही अंकुरित, विकसित और पल्लवित होती रही है। यूरोपीय दर्शनों के तर्क, बौद्धिक व्यापारों से आगे नहीं बढ़ सके हैं। यूरोपीय दर्शन क्षेत्र में जर्मनमूल के महान् दार्शनिक इमानुएल काण्ट की अत्यन्त आदरणीय स्थिति है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (क्रिटीक डेर राइनन फर्नफ्ट) से पहले से चले आ रहे अनुभवातीत भाव-विश्वासों और तार्किक पद्धति की सम्भावनाओं पर विस्तृत अध्ययन-मनन प्रस्तुत किया है, किन्तु अन्तिम निर्णय उन्होंने पाठकों के विवेक पर छोड़ दिया है। हालाँकि फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक आधुनिक चिन्तन से यूरोपीय बौद्धिक पद्धति को कुछ पूरक संगति मिल गई है, तो भी यह निश्चित है कि विभिन्न सेमिटिक दर्शन, मन-बुद्धि को अतिक्रान्त कर सृष्टि-एकत्व की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की विश्वव्यापिनी भूमिका में अभी तक पहुँच नहीं सके हैं। वस्तुतः वाक्-श्रुति के अद्वैत दर्शन से अवगत हुए बिना भावन-पथ प्रशस्त नहीं हो पाता।

वाक्-श्रुति के मनः शरीरी क्रिया-कलापों का प्रत्यक्षकारी अंग है—दृश्यता। दृश्यता और दृष्टि एक है। दृश्यता को दर्शन में रूप कहा गया है। रूप ही पदार्थ है, जो कि दृष्टि का विषय बनता है। नाम-श्रुति एक है, तो दृश्यता-रूप भी एक ही है। वस्तुतः वाक्-श्रुति की प्रतिज्ञा के रूप का अस्तित्व अदृश्य भावेन उपस्थित रहता ही है। रूप का भावन अर्थसिद्ध कल्पना से कर लिया जाता है। यह ठीक है कि सृष्टि की रूपात्मकता को प्रत्यक्षतया दृष्टि ही धारण करती है, पर उस धारणा की अभिव्यक्ति तो वाक्-श्रुति पर ही निर्भर है न!

वाक् और श्रुति की समवेत प्रत्यक्षता शब्द में ही फलित होती है। संवाद का प्रथम-प्राथमिक अधिष्ठान शब्द है और शब्द वर्णाक्षर-सम्भूत है। शब्द की भाषिक

प्रयुक्तता पद है। इसलिए वर्णाक्षर पदशैल्या कहे जा सकते हैं। वर्ण, ध्वनित रूप में अक्षर है और लिपित अक्षर ही वर्ण है। भारतीय भाषा-चिन्तन में अक्षर के लिए कहा गया है—नक्षरतीति अक्षरः, अर्थात् जिसका अस्तित्व विनष्ट न हो सके, वह अक्षर है। अक्षर ही अमर है। वर्णाक्षरों से निष्पन्न शब्द-सत्ता भी अमर है।

आचार्य भर्तृहरि कृत वाक्पदीयम् ब्रह्मकाण्ड की प्रथम कारिका से ही 'अक्षर (शब्द) ब्रह्म' को 'अनादिनिधन' कहा गया है। अर्थात् यह अक्षरब्रह्म न तो उत्पन्न होता है और न ही नाश को प्राप्त होता है। यह अक्षर शब्द रूप भी है और अर्थ रूप है। शब्द-अर्थ के इसी द्वैत से जगत की प्रक्रिया चलती है। शब्दार्थ की सुनिश्चित एवं सांग व्यवस्था से ही भाषिक अभिव्यक्ति का प्रवाह गतिशील रहता है। वेदांग के छह अंगों में से व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त और छन्द का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाषा से है। ज्योतिष और कल्प नामक शेष अंगों की सत्ता भी शब्दाश्रयी है।

तत्त्वतः सम्पूर्ण ज्ञान का अधिष्ठान भाषा है और भाषा का मूल अधिष्ठान शब्द है। स्पष्ट है कि ज्ञान, भाषा-अधिष्ठित है तो भाषा शब्द-अधिष्ठित। इस न्याय से संसार का समस्त ज्ञान मौखिक अथवा लिखित, दृष्ट अथवा श्रुत, अनुभूत अथवा अननुभूत और यहाँ तक कि अनुमित और अननुमित भी शब्द-आश्रित ही हैं। इसलिए भाषा का सम्पूर्ण चैतन्य शब्द में अधिष्ठित है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते॥

इस लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जिसका बोध, बिना शब्द के हो। समस्त ज्ञान शब्द में बिंधे हुए से भासित होते हैं। शब्द से ही इस लोक की सृष्टि हुई है। अपने इस मत को आचार्य भर्तृहरि ने वेदादि शास्त्रों द्वारा समर्थित कोटि में रखते हुए कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः॥

अर्थात् वेद और शास्त्रों के जानकार महर्षियों ने कहा कि यह सकल जगत शब्द का ही परिणाम है। इतना ही नहीं सूक्ष्म विवेचन करते हुए आचार्यों ने शब्द-रूप वाक्-प्राणिकता को ही सृष्टि तथा लोक-व्यवहार का कारक कहा है—

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।

तन्मात्रामनातिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु॥

इस तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्फोट रूप वाक् ही इस लोक का कारक है और भाषा-परिणामी होकर वाक् ही लोक-व्यवहार का धारक है। यह प्रमाणित है कि वाक् ही प्राणियों में चेतन-शक्ति है। बहिर्जगत् में यह वाक् लोक-व्यवहार का कारक तो है ही, अन्तःकरण में भी सुख-दुःख का ज्ञान यही वाक् कराती है। ऐसा

कोई भी प्राणी नहीं है जहाँ चैतन्य हो और वाक् न हो। सर्वत्र वाक् का ही कारकत्व फलित होता है, चाहे जाग्रत् अवस्था हो या स्वप्नावस्था। समग्रतया यह कहना न्याय-संगत है कि शब्द ही वाक् और भाषा ही आधारभूत सत्ता का वाचक है। दर्शन-भाषा में कहा जाए तो यह वाक् और श्रुति की शब्द व्यवस्था पर ही भाषा का सम्पूर्ण अस्तित्व आश्रित है।

वाक्-श्रुति की पूर्वापरता विश्लेषण से परे है। श्रुति है तो वाक् है। और वाक् है तो श्रुति है। श्रुति की सत्ता में वाक् समाहित है। बिना श्रुति के वाक् फलित नहीं होती। वाक् श्रुति की यह युति अपनी रूपात्मकता (दृष्टि) सहित जिस वृत्ति में परिणित होती है, उसे स्मृति कहते हैं। इस प्रकार स्मृति का स्वरूप, वाक्-श्रुति और दृष्टि का फलागम है। स्मृति एक प्रकार से बोधवृत्ति है। यह मनोभूमि की प्रवेश-पात्रता है। इस दृष्टि से इस चैतस् बोधवृत्ति को मति भी कहा गया है। लोक-स्वभाव में मन और मति एक हैं। पर मन के व्यास में मति को मन के एक रूप में लक्षित किया गया है। इसीलिए समाहार के रूप में यह कहा जाता है कि श्रुति और दृष्टि से मन बनता है। श्रुति में ही वाक् समाहित है और स्मृति इन तीनों का परिणाम है। सार रूप में यह कहा जाता है कि जो कुछ हम सुनते हैं और देखते हैं, उसी से हमारे मन का निर्माण होता है।

मति मन का वह पूर्व रूप है, जो वाक्-श्रुति-दृष्टि और स्मृति की संश्लिष्ट कारकीय प्रवृत्ति से निर्मित हुआ है। स्वयं में मति विकल्परूपा है। संकल्पबद्ध होकर यह मति जिस रूप को धारण करती है, उसे धृति कहा गया है। धृति मन की संकल्पित अवस्था है। वाक्-श्रुति-दृष्टि बीजरूपा है तो स्मृति मनः अंकुरण है, मति साधनरूपा है तो धृति साध्य है। इस प्रकार से श्रुति मनस्क्रियण-समस्तता का फलागम है। मन के संगठन में जिस षष्टक-समुच्चय की उत्तरोत्तर परस्परता है, वे हैं—वाक्-श्रुति-दृष्टि-स्मृति-मति-धृति। इन सभी मनःशरीरी प्रवृत्तियों की वाच्य-वाचक शक्तियों के धारण करनेवाली वाक् है। वाक् ही शब्द रूप में परिणत होकर मन, लोक और व्यवहार को धारण करती है। यही शब्द ही मन का संवादन है। शब्द ही मन की श्रुति और स्मृति है। मति और धृति का मनोरूप भी शब्दाश्रयी है तो दृष्टि का द्रष्टव्य भी शब्द पर आश्रित है। यह शब्द ही मन की कल्पना, उद्भावना और मानसिक क्रिया-भाव-विचार तथा संकल्प-विकल्पात्मक आयामों का अर्थ-प्रकाशक है।

अस्तु, सभी आलम्बन शब्द-रूप होकर मन का विषय बनते हैं। मनुष्य का मन जगत् के दृश्यों, ध्वनियों (शब्द रूप भी) और गतियों का संघात है। सम्पूर्ण दृश्य और श्रव्य, गत्वर और स्थिर, प्रमेय और अनुमेय, अनुभूत और अनुभूय, तर्क-प्रत्यक्ष और आभासमान् तथा यथार्थ और कल्पित स्थितियों-बोधों का माध्यम शब्द ही तो है। इस प्रकार शब्द ही मन-मनोवृत्ति और परिवेश है। शब्द ही आश्वस्ति और शब्द ही मन का सन्देह है। शब्द ही नाम (संज्ञा) है। नाम और रूप एक हैं और नाम-रूप मन के विषय

हैं। पूरा नाम पूरी आश्वस्ति देता है। सम्भवतः इसलिए भारतीय भाषाओं के आद्यक्षर (Initials) के सम्बोधन की सहज प्रवृत्ति नहीं रही है। यह एक प्रकार का गोपन है। अंग्रेजी भाषा के लिपि-प्रभाव से इधर यह प्रवृत्ति भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा रही है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द का मन से और मन का साहित्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मन के गठन का कारक तो शब्द है ही, शब्द ही साहित्यिक संरचना, विचारण, विस्तारण, रूपण और भावन का कारक है। मनसा शब्द जुड़ते हैं तो रचना घटित होती है। शब्द विघटित चेतना में उतरते हैं तो संरचना-सम्बन्धन भी ध्वस्त हो जाते हैं। सामान्यावस्था में शब्द बोधक है तो उसकी वेधकता भी उसके बोध का भाग है। शब्द सन्धि है तो विग्रह भी शब्द ही है इसलिए शास्त्रकार सावधान करते हुए कहता है—

‘एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।’

अर्थात् सम्यक् रूप से किए गए एक शब्द का प्रयोग भी इस लोक और उस लोक में कामधेनु सरीखा सभी मनोरथों को पूरा करता है।

राष्ट्रीय सन्दर्भ में सजग शब्दशास्त्री शब्द प्रयोग की सुष्ठता को बार-बार रेखांकित करते आए हैं। शब्द के अन्तरंग और बहिरंग की रक्षा करना राष्ट्र के लिए आवश्यक है। यह कार्य शासकीय नीति-निर्देशों का भी विषय होना चाहिए कि शब्द की दृश्य और श्रव्य अभिव्यक्तियों में अराजक और अनर्थक हस्तक्षेप न हो।

यह सांस्कृतिक सत्य निभ्रान्त रूप से स्वीकार्य किया जाना चाहिए कि शब्दों का एक महासेतुक संसार और संस्कार-मण्डल होता है, जो अपने ही दिक्कालिक सम्बन्धों से स्वरूपित होता है। वाक् की समवेत औच्चारणिक ध्वनन की विभिन्न झंकृतियाँ इस महासेतु का निर्माण करती हैं, जिस पर चलते हुए पथीन परस्परता के भ्रातृभाव-साहचर्य में सभी राष्ट्रजन अपनी निजता के वैशिष्ट्य को भी बनाए रखते हैं। भाषिक स्तर पर व्युत्पत्ति, उद्गम, सन्दर्भ, अर्थ-प्रसार, ध्वनि-प्रवाह, दिक् सम्बद्ध इतिहास-दृष्टि, नैतिक चेतना और राष्ट्रीय प्रतीक-संज्ञाओं के वाचक शब्द अपने प्रयोगात्मक संस्कार-मंडल में जाग्रत् जीवित और चेतना-सम्पन्न बने रहते हैं। ऐतिहासिक परम्परा से ऋद्ध शब्दों के स्वरूप-सम्बन्धों में से किसी एक अंग का अपहरण कर लेना, शब्द को विषयान्तर अथवा विरुद्ध प्रयोगधारा पर ले जाना, क्षमता के विपरीत अर्थ को संकुचित अथवा व्याप्ति-सन्दर्भ में स्थानान्तरित करना, सामान्य अर्थ को विशेष और विशेष अर्थ को सामान्य रूप से प्रयुक्त करना, शब्द से मनचाहा अर्थ कर्षित करना, अंगअंगी भाव की अनपेक्षित तुलना करना, शब्द को उसके दिक्-सम्बन्धों से विच्छिन्न कर देना तथा सिद्ध लय-गति एवं विराम-तुक से शब्द को विशृंखलित करने जैसे भाषिक षड्यन्त्र भारत राष्ट्र के दृश्य और श्रव्य माध्यमों पर अपना कुप्रभाव दिखा रहे हैं। सैन्य दृष्टि से सीमाओं को अतिक्रान्त करने की अपेक्षा ये भाषिक हथियार अधिक कारगर एवं

प्रभावी हैं तथा भावी पीढ़ियों को मनोवैज्ञानिक रूप से दिग्भ्रान्त करनेवाले हैं। भारतविद् भाषा-चिन्तकों सहित शीर्ष शासकीय सत्ता संस्थान को यह सत्य हृदयंगम करना होगा कि भाषिक शब्दाधिष्ठान भी राष्ट्रीय धरोहर है और यह धरोहर सर्वांग-रूप से अन्य भौतिक धरोहरों से कहीं अधिक मूल्यवान और प्राथमिक है। शब्द की यह धरोहर ऐसा आधारभूत प्रतिष्ठान है, जिस पर अन्य धरोहरों की स्थिति और सार्थकता निर्भर है।

जो शब्द वर्णाक्षर-व्यवस्थित है, अर्थ का प्रकाशक है, वही वाक् का सुफल और व्यवहार का कारक है, संवाद का सेतु और मन का आलम्बन तथा मन का आश्रय भी है। स्पष्ट है कि शब्द, भाव-विचार और चिन्तन-मनन का माध्यम ही नहीं, इन सबकी स्वरूपसत्ता भी है। यह शब्द ही साहित्य में सर्जनात्मकता का आधार-दर्शन है।

अपने अर्थ एवं प्रभाव-परिणमन की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द स्वयं में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का उपादान है। शब्द में निहित संरचनात्मक कौशल का आश्रय लेते हुए समर्थ रचनाकार, मनुष्य मात्र के धर्म, अर्थ, काम, नीति, मुक्ति सौन्दर्य-दृष्टि जागतिक कर्म-कलाप, श्रुति-स्मृति-परम्परा-बोध विचार-दार्शनिक चिन्तन की शिखरताओं, अभिकल्पनाओं और उद्भावनाओं को भाव-सरिता में निमज्जित कर उनके वाच्यार्थ को साहित्यिक सुवास से भर देते हैं। भावसारित ये शब्द ही साहित्यिक सर्जनात्मकता को त्रिपथगामी बनाते हैं। साहित्य के ये शब्द 'भूतभव्यभवन्नाथ' होकर अतीत-वर्तमान-भविष्य की भावधारा में सर्जनात्मकता के निमित्त और उपादान कारण बनते हैं।

शब्द निर्वचन के माध्यम से 'साहित्य' शब्द की अर्थवत्ता और गुण-प्रभाव को विश्लेषित किया जा सकता है। साहित्य शब्द, 'सहित' की भाववाचक संज्ञा है। सहित शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो यह कि 'सह' में इतच् प्रत्यय लगाने से सहित शब्द बनता है, जिसका अर्थ है 'साथ-साथ' होना। दूसरा यह कि 'धा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से 'धा' को 'हि' आदेश होकर 'हित' शब्द बनता है, जिसके पूर्व 'स' उपसर्ग प्रयोग से 'सहित' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—हित सहित।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्तस्तात्त्विक दृष्टि से 'साहित्य' शब्द में ही तीन गुण सन्निहित हैं। एक गुण है 'साथ-साथ' होने से 'सहचरण' का। दूसरा गुण है हितैषिता का और तीसरा गुण है धार्यता का। इस प्रकार नैर्वचनिक दृष्टि से साहित्य-सर्जना के ये तीनों अभिलक्षण अनिवार्य हैं—साहचर्य, हितकामिता एवं धार्यता। ये तीनों गुण व्याख्यापेक्षी हैं। लेखन के सन्दर्भ में साहचर्य से अभिप्राय है कि जिस कृति में शब्द का शब्द तथा अपने अर्थ से, अर्थ का निहित भाव-विचार से, वस्तु-तत्त्व का अभिव्यंजना से, यथार्थ का कल्पना से व्यष्टि का समष्टिभाव से तथा अतीत का भविष्य से रचनात्मक संवर्धन घटित होता है, ऐसी लिपिबद्ध रचना ही साहित्य कहे

जाने की अधिकारिणी है। साहित्य का दूसरा अभिलक्षण है मानवीय हितकामिता का साहित्यिक हित-भाव का स्वरूप, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्मक्षेत्रीय है। यहाँ 'सहित' का हित शब्द लक्षणा में व्यवहृत हुआ है। इस हित-भाव में कृतिकार का स्वयं का रचनात्मक मनस्तोष समाहित है। जहाँ तक धार्यता गुण का सम्बन्ध है, 'धा' धातु से निष्पन्न 'हित' और उससे व्युत्पन्न (सहित) शब्द में गहरी भाव-व्यंजना निहित है। 'धा' का अर्थ है—धारण करना। 'धारण करने' का सन्दर्भ यह है कि साहित्य ऐसी कृति है, जिसमें धार्यता गुण सन्निविष्ट है। अभिप्राय यह कि 'धार्यता' साहित्य का स्वरूपगत गुण है। यह गुण भावक्षेत्रीय है। इस सन्दर्भ में यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्य में विचार को भी भावसिद्धि होकर अनुभूति का विषय बनना पड़ता है। कोरा विचार साहित्य के किसी काम का नहीं है।

साहित्य में यह 'धार्यता' दो स्तरों पर चरितार्थ होती है। पहला स्तर है—देशकालबद्ध धार्यता का और दूसरा स्तर है—मानवीय सांवेदनिक मूल्यबद्ध धार्यता का। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सीमित दिक्काल में भी जो 'मूल्यवान' होता है, वही साहित्य का केन्द्रीय स्वर पर बनता है सीमित दिक्काल का भी अपना निजी वैशिष्ट्य होता है। ऐसी कृति में भी मूल्य-चेतना के सूक्ष्मकरणों का आंगिक संचरण घटित होता रहता है, तभी वह साहित्य की कोटि में आती है। यह अलग तथ्य है दिक्काल के अपने असीम संचरण के कारण कृति में निहित मूल्य चेतना अपने आशय का विस्तार और अपने समय का अतिक्रमण नहीं कर पाती।

साहित्य की धार्यता का दूसरा स्वरूप है—मानवीय मूल्यबद्धता का। साहित्य की ऐसी धार्यता कालातिक्रामी होती है। ऐसी कृति अपनी दिक्कालिकबद्धता से मुक्त होती है। मानवीय सांवेदनिक धार्यता का ऐसा साहित्य समर्थ प्रतीकों, सुन्दर रूपकों, उत्प्रेक्षाओं और अभिव्यक्ति के अन्य सार्थक बिम्बात्मक आश्रय से उद्घात एवं विराट् उद्देश्यों को समर्पित होता है। ऐसे ही साहित्य के गौरवपूर्ण शब्द अपनी युगीन चेतना के बीच से भी उच्च वैचारिक और भावात्मक अभिव्यक्ति के रुचिर होते हैं। ऐसे ही साहित्य में दिक्कालबद्ध व्याकुलता व्यष्टिबद्ध न होकर समष्टिबद्ध और सृष्टिबद्ध हो जाती है। यही सांवेदनिक मूल्य-चेतना है, जो कृति के भावसिद्ध शब्दों में तरंगायित होती रहती है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साहित्य एक परोक्ष विधा है। साहित्यिक अभिव्यक्ति में सादृश्य-विधान ही वस्तु-रूप को बिम्बात्मक दृश्यता प्रदान करता है। इसलिए साहित्य में शब्द अपने अर्थ के साथ व्यतीत नहीं होते। उनके निहितार्थ भविष्य हेतु भी प्रेरक बने रहते हैं। ऐसे साहित्य का रसात्मक भावन पाठकों को अपने लय-लोक से सम्मोहित किए रहता है। साहित्य का यह प्रीतिकर दर्शन कृत के भावललित शब्दों में व्याप्त रहता है।

सुतराम, वाक्-श्रुति से लेकर मति और धृति पर्यन्त, सर्वत्र शब्द का ही लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है। ध्वनि रूप में शब्द ही आकाश का गुण है। तत्त्वतः ऐसी कोई भी चराचर सत्ता नहीं है, जो आकाश से परिछिन्न हो। सर्वकाल और सर्वत्र आकाश ही व्याप्त है। आकाशीय गुण-सम्पन्न शब्द की सत्ता स्वयं प्रकाशित है। विश्व का समस्त बोध शब्दाश्रित है। मानवीय भाव-विचार, चिन्तन-मनन और वस्तु-जगत् और सभी रूप-पदार्थ शब्द से ज्ञेय हैं। सर्वत्र भीतर और बाहर शब्द की सत्ता है। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सभी शब्दाश्रित होकर व्यक्त होते हैं। जगत् के सभी भाव-अभाव शब्द से ही व्याख्य हैं। शब्द ही सर्वांग योग है। स्फुरित शब्द ध्वनि ही नहीं, ऊर्जा भी है। स्फुरित ऊर्जा ही प्राणिक चेतना है।

आचार्यों ने पश्चाली वाक् रूप शब्द को ब्रह्म कहा है। यही शब्द मनोगत अवस्था में मानसिक क्रियाशीलता का विषय बनता है और उच्चरित अवस्था में वैखरी वाक् कहलाता है। साहित्य की अभिव्यक्ति का मूलाधार वैखरी वाक् शब्द है, जो वर्णाक्षर रूप में लिपित होकर लेखन का आश्रय बनता है। इस प्रकार वर्णाक्षर से लेकर वाक्य-विन्यासन, वस्तु-रूपण, अभिकल्पन, भावन, विचारण, बिम्बन, अभिव्यंजन और सम्प्रेषण पर्यन्त; साहित्य की समस्त कारकता शब्दागम के रूप में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है। शब्द के रचना-रूप में मध्यमा वाक् की वैचारिकता गति-सत्त्व रहती है। साहित्य के सर्जनात्मक स्वरूप का विधान करने वाली यह भाव सारित वैचारिकता, सादृश्यण और बिम्बन के माध्यम से मन की कल्पनाशील रमणीयता में परिणत होकर रचना में निहित भाव-सौन्दर्य को उद्घाटित करती हुई पाठक-चित्त को अपनी सर्जनात्मक सुवास से आप्लावित कर देती है।

असमिया राम-साहित्य में वर्णित राम वनगमन

प्रो. दिनेश कुमार चौबे*

भारतीय साहित्य में अनादि काल से ही राम और रामकथा का महत्त्व मान्य है। रामकथा भारतीयों को युगों-युगों से सही दिशा देती आयी है। तभी युग के अनुरूप निरन्तर नये-नये रामाख्यान विभिन्न साहित्यिक विधाओं में लिखे जाते रहे हैं। रामायण गार्हस्थ्य जीवन का महाकाव्य है। राम हमारी सांस्कृतिक उपलब्धियों के सर्वश्रेष्ठ आदर्श हैं। रामायण एवं अधिकांश रामाख्यान रचनाएँ भारतीय अस्मिता की बोधक, सांस्कृतिक धरोहर, साहित्यिक तथा राष्ट्रीय और शाश्वत मानव-मूल्यों की उत्कृष्ट भंडार होने के साथ ही लोकमानस को आन्दोलित आह्लादित करने में सर्वप्रकारेण समर्थ है। रामकथा का मूल स्रोत रामायण है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में उसी के आधार पर सैकड़ों रामायण, रामाख्यान कृतियाँ लिखी गयी हैं। अब भी रामकथा विषयक नयी-नयी रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में हो रही हैं। यहाँ रामायणकालीन समाज की स्थिति और असमिया रामायणी साहित्य में राम वनगमन की चर्चा अभीष्ट है।

असमिया रामायणी साहित्य की चर्चा में असम के नामकरण और रामायणी साहित्य का विवेचन प्रासंगिक है। असम नाम अपेक्षया नवीन और आधुनिक है। टाई जाति की एक शाखा आहीम से इसका सम्बन्ध जुड़ता है। कुछ लोग मानते हैं कि इसकी उत्पत्ति टाई जाति के स्याम (अपराजेय) शब्द से मानी जानी चाहिए। स्याम में अ जुड़ने पर आस्याम (अपराजेय) आस्याम-अस्याम-असम-असाम बना, किन्तु प्राचीन नाम प्रागज्योतिष (राजधानी प्रागज्योतिषपुर) का उल्लेख रामायण, महाभारत, राजतरंगिणी एवं मार्कंडेय, भागवत, कालिका आदि पुराणों में मिलता है। दूसरा नाम कामरूप भी सातवीं शताब्दी में प्रयुक्त हुआ है। कालिदास ने रघुवंश (4/81.83) में दोनों नाम प्रयुक्त किये हैं। राजमोहन नाथ के अनुसार कामरूप शब्द की व्युत्पत्ति किराटीय बड़ों, मूल शब्द का-येई है-फिय से हुआ है जो आरम्भ में निषादमूलीय शब्द का-मेई खा के लिए प्रचलित था। (The background of Asamese Culture) कालान्तर में कामरूप,

* प्रो. दिनेश कुमार चौबे, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, सम्पर्क 9436312134

कामानुद और कामरूप बना। इसका एक नाम लौहित्य भी है, जो कालिका पुराण में लौहित्य शब्द जनपद के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है, इस भू-भाग में प्रमुख नदी लुइत (परवर्ती नाम ब्रह्मपुत्र) के आधार पर बनने की सम्भावना व्यक्त की जाती है।

रामायण शब्द जैसे मूलतः रामचरित्र सम्बन्धी वाल्मीकि-रचित आदि काव्यग्रन्थ का बोधक है, वैसे ही सप्तकांडरामायण शब्द असमिया भाषा और साहित्य में विशेष अर्थ का वाहक है। जो इसका अभिधार्थ है। सात खंडों में रचित रामचरित्र-सम्बन्धी काव्य, किन्तु रूढ़ अर्थ है—असमिया रामायण। महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि राम नर थे या नारायण-नरगण में उत्पन्न होने के कारण सामान्य जन ने उन्हें नरोत्तम और पुरुषोत्तम की सीमा के अतिक्रमण कर नारायण घोषित किया था, किन्तु मुख्य विषय है कि राम और उनका अयन भारत की पहचान के लिए अनिवार्य अन्तरंग तत्त्व है रामायण भारत की नीति है। देश-विदेश एवं विविध धर्मों के रामायणों की भाँति असम में रामायण साहित्य का स्वरूप प्राचीन है। यहाँ संक्षेप में उनका उल्लेख कर रामवनगमन के प्रसंग की चर्चा अभिष्ट है :

माधव कन्दलि—पंचकाण्ड रामायण (1400 ई.)

शंकर देव—उत्तरकाण्ड (1550 ई.)

माधवदेव—आदिकाण्ड (1550 ई.)

हरिबर विप्र—लवकुशर युद्ध (1500 ई.)

अनन्त कन्दलि—रामायण (1550 ई.)

दुर्गावर कायस्थ—गीति रामायण (1570 ई.)

अनन्त ठाकुर आता—श्रीराम कीर्तन (1655 ई.)

रघुनाथ महन्त—शत्रुंजय (1736 ई.), अद्भुत रामायण, कथा रामायण (1781 ई.)

गंगा (राम) दास—सीता वनवास

भोलानाथ दास—सीताहरण

करबी रामायण—साविन आलुन

लिकचाओ लामाड—खमती रामायण

हिन्दी से अनूदित रामायण

श्रीकान्त सूर्यविप्र—तुलसीदासी रामायण

कृष्णनाथ शर्मा—हिन्दी रामायण

महन्त दम्पति (बापचन्द महन्त और केशदा महन्त)—श्री रामचरितमानस

असमिया रामायणों में रामवनगमन के प्रसंग का चित्रण बड़े मार्मिक ढंग से हुआ है। यहाँ के दृश्य पूर्वोत्तर की प्राकृतिक छटा से अभिन्न प्रतीत होते हैं। यहाँ प्रकृति-चित्रण के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

कथा-विधान और चरित्रांकन में माधव कन्दलि ने वाल्मीकि का पूर्णतः अनुकरण तो किया है, परन्तु प्राकृतिक शोभा और सम्पदा से भरपूर असम में रहने के कारण वे प्रकृति के अंकन में वाल्मीकि से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति-वर्णन एक आवश्यक रूढ़ि है। रामकथाओं में कथा का प्रसंग वनवास से सम्बन्धित होने के कारण वन, नदी, पर्वत, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों को वर्णन के लिए विशेष स्थान है। कन्दलि रामायण में शुद्ध प्रकृति तो नहीं पर प्रसंगानुरूप प्रकृति-चित्रण अवश्य हुआ है :

श्री राम लक्ष्मणे चान्त सरोवर चम्पा।

चतुर्दिशे बेरि, आछे नागेश्वर चम्पा।

इसमें वर्षा-वर्णन इस रूप में देखने को मिलता है :

प्रमत्त भ्रमरे येन मालतीक शोषे।

विरहिणी नारीर विरह चित्ते घोषे।

मेघर गज्जन सुनि मैरा करे नाद।

सीताक सुमरि राम करन्त विषाद।

बसन्त वर्णन इस प्रकार है :

बसन्त समये काग राजार पयाण। पुष्प धनुष आरोहिया पाँच बाण।

भासूर्या पुरुषर काम बाणे लक्ष्य। विरहिजनर भैल सहन अशक्य।

चित्रकूट पहुँचने पर राम सीता को वहाँ के वृक्षों आदि का परिचय देते हुए मन्दाकिनी नदी की तुलना उसके अंगों से करते हुए कहते हैं :

चित्रकूट पववर्तक देखियोक सीता।

पका आमे गौर वर्ण करील चौभिता।

ओपरत मेघ येन देखिय शोभन।

बाढ़ित निकलि येन पृथ्वीवीर तन।

चित्रकूट में राम मन्दाकिनी नदी एवं उसमें विहार कर रहे पक्षियों की तुलना सीता के अंगों से करते हुए कहते हैं :

मन्दाकिनी नदीत देखिया पक्षीगण।

सिताक सम्बुधि रमे बुलिला वचन।

राजहंस देखी सीता तोमर गमन।

चक्रवाक युगल तोमार दुई तन।

हरिहर विप्र कृत 'लवकुशर युद्ध' में नाम परिगणन के माध्यम से असम के पेड़-पौधों के नाम उल्लिखित हुए हैं। जैसे :

ताल नारिकल सरल श्रीफल हिजल बकुल गाछे ।
 आम जाम नेमु चम्पा नागेश्वर फुलि झक-मक आछे ।
 आमारि गामारि डम्बरु खजुरि बदरी पारलि तरु ।
 तेतेली शिमलु सुरे करदई डायारेरि बैलादारु ।

इसी कथानक पर रचना करने वाले परवर्ती कवियों गंगारामदास (सीतार वनवास), भवानीनाथ द्विज (रामाश्वमेध), सुबुद्धिराय (रामाश्वमेध) में हरिहर बिप्र की यह रचना न केवल प्रथम है बल्कि प्रधान भी। असमिया के रामकाव्यों में हरिहर बिप्र-कृत 'लवकुशर युद्ध' एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

अनन्त कन्दलि की रामायण में चित्रकूट वर्णन काफी प्रभावशाली बन पड़ा है :

चित्रकूट गिरि परम रुचिर देखि पुष्प बन ।
 फले फुले रंजे नन्दनको करिओ हरिष मन ।
 तुलसी मालती शिरीष सेवती करबीर कणिकर ।
 अशोक चम्पक फुले झकमक बकुल कुन्द मन्दर ।

कवि दुर्गावर के गीति रामायण में चकवा-वक का प्रसंग महत्त्वपूर्ण है :

दिवसर एकत्रे थाकिबि दुइ चरे ।
 रात्रि हैले बासा कर इपारे सिपारे ।
 बार बरिषण आरु मेघर संयोग ।
 बार बरिषत तोर मिलिब सम्भोग ।

भोलानाथ दास ने काव्य-रचना में 'सीताहरण', 'कवितामाला', 'चिन्तातरंगिनी', 'सुभद्राहरण', 'प्रसंगमला' इत्यादि प्रमुख हैं। भोलानाथ दास-कृत 'सीताहरण' का अपना वैशिष्ट्य है। यह उनकी प्रथम रचना है। यहाँ सीता विरह उल्लेखनीय है :

प्रभातिला निशा । उषा आतगति धारी ।
 आसिला, कुरुलि दिला सुदीर्ये पेचक ।
 बायस करीला का-का येन हेरुवाई ।
 लंका, लंका प्रिय पक्षी कुक्कुट पूछिला ।

ज्योति प्रसाद अग्रवाल ने 'ज्योति रामायण' की रचना की है। उनका विवाहोत्सव वर्णन दर्शनीय है :

कतो जनीयेबा उचपिकै फुरिछे कापोर बाछि ।
 अतिकै रूपही केतकी पहिया बरनर छोवालिये ।
 कि पिन्धों कि पिन्धों बुलि घूरि फुरि माकक आमनि दिये ।
 रडा मेखेलाई मोक नुशुवाई हालधियाखान दिया ।

असमिया समाज के हर अनुष्ठान में राम-सीता हमेशा आदर्श बने हुए हैं। यहाँ कुछ कृतियों में राम और कृष्ण में भेद भी नहीं दिखता। रामकथा में कृष्णोच्चार तथा कृष्णकथा में रामोच्चार अत्यन्त स्वाभाविक है। असम में यद्यपि नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के आरम्भ होने के पूर्व से ही राम-साहित्य का लेखन चलने लगा था, किन्तु उसमें गति आयी भक्ति-आन्दोलन के परिणामस्वरूप ही। सम्प्रति सम्पूर्ण उपलब्ध राम-साहित्य भक्ति रस से युक्त है। मूलतः धार्मिक होते हुए भी उसका मुख्य स्वर मानवहित और आदर्शवादी है। वह असमवासियों के जीवन का व्यावहारिक अंग बना। उसने जीवनादर्शों को सँवारा और उनके बहुमुखी विकास में सहायक बना। अन्त में महापुरुष शंकरदेव के 'कीर्तन घोषा' की पंक्ति अत्यन्त प्रासंगिक है, जहाँ वे सभी जीवों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सभी को प्रणाम करते हैं :

कुकुर चांडाल गर्दभरो आत्माराम ।
 जानिबा सबाको परि करिबा प्रणाम ।।

‘तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें’!

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’*

‘कामायनी’ एक गहन अन्तर्गर्भी रूपकात्मक कृति है, जिसके साभिप्राय अर्थ-गह्वर (Semantic Enclave) में हिन्दी के दिग्गज कवि-आलोचकों का भी अन्तर्प्रवेश सम्भव नहीं हो पाया है। दूसरे, इन कवि-आलोचकों को न तो उपनिषदों का और न ही सामरस्यवादिता की ओर ले जानेवाली ‘प्रत्यभिज्ञा’ नामक दार्शनिक चेतना (The Concept of Self-recognition & Perfect Consciousness) या कि दर्शन का ही सम्यक् ज्ञान है। इन कवि-आलोचकों की पल्लवग्राहिता और पूर्वपक्षधरता ने ‘कामायनी’ विषयक उनके अवबोध को भ्रान्त कर रखा है। फलतः इन्होंने ‘कामायनीकार’ और कामायनी पर अनेक असंगत और अन्यायपूर्ण आरोप-पर आरोप किए हैं। पर ऐसा करते हुए भी ये आलोचक अपने-अपने आलेखों के साक्ष्य में ही कृति की अद्वितीयता और कृतिकार की सामर्थ्य का विस्मरण नहीं कर पाए हैं।

प्रसाद के समकालीन छायावादी कवि-आलोचक सुमित्रानन्दन पन्त ने कामायनीकार से चार शिकायतें ही हैं। ये शिकायतें इड़ा और श्रद्धा का सामंजस्य करने, मनु के लोक-जीवन की ओर नहीं लौटने, युगीन समस्याओं का चिर पुरातन समाधान देने और जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे पाने की शिकायतें हैं। पन्त ने लिखा है कि इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं है। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है। यहीं पर ‘कामायनी’ कला-प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी।” (द्रष्टव्य : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—पन्त)

* पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ पूर्व प्रोफेसर-अध्यक्ष एवं पूर्ण अधिष्ठाता, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर-143005 (पंजाब), सैद्धान्तिक एवं सर्जनात्मक आलोचक, साईकृपा, 58 लाल एवेन्यू, डाकघर-छेहर्ता अमृतसर-143105 (पंजाब); चलभाष-09878647468

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने पहले आरोप में ‘इड़ा’ और ‘श्रद्धा’ के ‘सामंजस्य’ को ‘पर्याप्त’ नहीं माना है। ऐसा इसलिए हुआ है कि वे इड़ा और श्रद्धा के निहितार्थ को नहीं समझ सके हैं। वस्तुतः यह बुद्धि और भाव या कि मस्तिष्क और हृदय का समन्वय तो है ही, पर यह बाह्य और अभ्यन्तर का देह और आत्मा का भी समन्वय है। यह ‘रजोगुण’ और ‘सतोगुण’ का भी समन्वय है। ‘कामायनी’ यह बताती है कि बुद्धि को भाव से परिचालित होना चाहिए। बाह्य जगत या कि लोक-जीवन का संघर्ष मिटाने के लिए और सबके बीच समानता लाने के लिए केवल ‘रजोगुणी’ उपायों से, संघर्ष से, क्रान्ति से, सत्ता-परिवर्तन से जनवादी विद्रोह जैसे बाहरी उपाय-मात्र से कभी भेद-भावहीन स्थाई समानता नहीं लाई जा सकती। यही बुद्धि की असफलता है। इस समानता का बीज-वपन तो मनुष्य के अभ्यन्तर में, उसके अन्तर्जगत् में होता है, जिसके पल्लवित होते ही मनुष्य का ‘मैं’, ‘हम’, में रूपान्तरित होता है। ‘अहंकार’ और ‘स्वार्थी ममत्व’ मिटता है। मानसिकता में समत्व भाव आता है। इसी समत्व भाव से लोक-मंगल और लोक-कल्याण की चेतना जगती है। दूसरों के लिए त्याग का भाव जगता है। जब ‘मैं’ की अशेष व्याप्ति ‘हम’ में बदलती है, सभी अपने हो जाते हैं। आत्म-केन्द्रित परिग्रह समाप्त होता है। यह अभ्यन्तर के सतोगुणी हृदय से भाव-लोक से सम्भव होता है। इड़ा यदि बाहरी हलचल है और संघर्ष का बीजमन्त्र है; तो श्रद्धा आन्तर प्रशान्ति है, अहन्ता और स्वार्थी मोह-ममता का परित्याग है, वह ‘मैं’ का ‘हम’ में ‘लोक’ में, ‘सब’ में रूपान्तरण है। वह समत्व भाव की स्थायी सतोगुणी मानसिकता है। श्रद्धा से इड़ा का सामंजस्य इसलिए अपेक्षित है कि बुद्धि-प्रेरित ‘कर्म’ तो रजोगुणी है। वह स्वार्थ-संघर्ष, सत्ता, प्रभुत्व और अधिकार-मद के हेतु ही अपनी सक्रियता दिखाता रहता है। यथा—“यहाँ सतत संघर्ष, विफलता/कोलाहल का यहाँ राज है, /अन्धकार में दौड़ लग रही/ मतवाला यह सब समाज है/...यहाँ शासनादेश घोषणा/ विजयों की हुंकार सुनाती;/ यहाँ भूख से विकल दलित को/पदतल में फिर-फिर गिरवाती।” यह सनातन रजोगुणी क्रियाशीलता है और हमारे समकाल का यथार्थ भी है। प्रसाद इसीलिए इसे ‘यह अति भीषण कर्म-जगत’ कहते हैं। श्रद्धा इसे मनु के माध्यम से सतोगुणी दिशा देकर इस ‘भीषण कर्म-जगत्’ को ‘समरस लोकप्रिय कर्म-जगत्’ में बदलती है। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में भी यह सामंजस्य देखा जा सकता है जहाँ उनके कर्म में सतोगुण की प्रधानता है। हिंसा की जगह अहिंसा, संघर्ष की जगह सत्याग्रह और परिग्रह की जगह त्याग, तथा ‘मैं’ की जगह ‘हम’ और ‘लोक’ ने ले रखी थी। इसलिए ‘इड़ा’ और ‘श्रद्धा’ का सामंजस्य ही जागतिक समस्या का ‘पर्याप्त’ ही नहीं, अपितु एकमात्र शाश्वत और स्थाई समाधान है। यह आज की वैश्विक अशान्ति, और नरसंहारी युद्धोन्मुखता का एकमात्र निदान है। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि मनुष्य का बाह्य उसके आन्तर से प्रेरित-प्रभावित होता है। इसीलिए उसकी दृष्टि में आन्तरिकता का शोधन और परिमार्जन मूल रूप में

अपेक्षित है। अतः पन्त का यह आरोप गलत और पूर्वग्रस्त है। पन्त जी का दूसरा आरोप है कि ‘समरस स्थिति प्राप्त होने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए।’ साथ ही यह भी कि यदि लौट भी आते, तो कुछ नहीं कर पाते। कहना होगा कि उनका यह दूसरा आरोप भी पूर्वग्रहग्रस्त है। ‘कामायनी’ का अन्तिम सर्ग ‘आनन्द’ है। इसमें मनु की समरस मानसिक स्थिति की, ‘प्रत्यभिज्ञा’ की, ‘आत्मज्ञान’ की उपलब्धि है। विकसनशील कथा की दृष्टि से यह मुक्तान्त (Open-ended) काव्य है, बद्धान्त (Closed-ended) काव्य नहीं है। अतः इस उपलब्धि के बाद मनु लोक-जीवन में किस तरह सक्रिय हुए, इसको यहाँ स्पष्ट रूप में नहीं दर्शाया गया है। ‘कामायनी’ की सोद्देश्यता मनु (आरम्भिक) का ‘तमोगुणी’ (निष्क्रिय-निराश) से ‘रजोगुणी’ (सक्रिय बनने/ नगर बसाने/ नियमन करने) और ‘रजोगुणी’ से ‘सतोगुणी’ (अहन्ता, स्वार्थी ममता, स्पर्धा, प्रभुत्वाधिकार-मद, संघर्ष और हिंसादि प्रवृत्तियों का त्याग कर आत्म-विस्तार करने) बनाकर लोक-मंगल और लोक-कल्याण की दिशा निर्दिष्ट करने की है। श्रद्धा के मार्ग-दर्शन में दर्शन, ‘रहस्य’ और ‘आनन्द’ सर्गों के द्वारा मनु को यह सार्थकता और सोद्देश्यता प्राप्त होती है। मनु और श्रद्धा अपनी इस उपलब्धि से प्रत्यक्षतः इड़ा और मानव को लाभान्वित करते हैं। मनु की उपलब्धि मानसिकता लोक-चेतना की ही मानसिकता है। यदि यह लोक-चेतना उनकी मानसिकता में उदित नहीं होती, तो इसका अनुभूत कथन मनु क्यों करते? यथा—“मनु ने कुछ-कुछ मुस्क्या कर/कैलास ओर दिखलाया/ बोले “देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया/ हम अन्य न और कुटुम्बी/ हम केवल एक हमी हैं; / तुम सब मेरे अवयव हो/ जिसमें कुछ-नहीं कमी है; / अपना ही अणु-अणु, कण-कण / द्रव्यता ही तो विस्मृति है।” मनु जब ‘कैलास’ की ओर इंगित करते हैं; तो वे अपने मस्तिष्क-रूपी कैलास को ही दिखलाते हैं, जिसका आशय इसमें निहित सतोगुणी मानसिकता से है। इस सतोगुणी चेतना से जो अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है, यह लोकार्पित होने और लोक-मंगल करने के योग्य बनने का ही आनन्द है। इसकी चरम और परम उपलब्धि के पश्चात् ही विश्वमंच पर लोकहितार्थ लोक-कर्म का सम्पादन सम्भव है। पर कामायनीकार यहाँ पहुँचने के पश्चात् यह कभी नहीं कहते कि मनु और श्रद्धा हिमालय में रह गए, वह पुनः नहीं लौटे और लोक-मंगल को नहीं सोचकर अपनी-अपनी मुक्ति के लिए साधना-निरत हो गए, बल्कि वह इस आनन्द को लोकहिताय ही निरूपित करते हैं। दूसरे, यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि इड़ा और मानव दोनों श्रद्धा द्वारा लोक-हित के लिए लौटा दिए जाते हैं। मनु और श्रद्धा दोनों दीप्त-दीक्षा देने के लिए उस भौगोलिक परिवेश में रह जाते हैं। वह अब तीर्थ ही है। जो-जो लोग ख्याति फैलाने के साथ-साथ यहाँ आएँगे उन्हें लोकहित की यह दीक्षा प्राप्त होगी। पर यदि हिमालय पर स्थित होने को अपने सहस्रार और गगन-मण्डल पर स्थित होने की सार्थक साभिप्रायता को देखें, तो यह आत्मस्थ स्थिति है, उपलब्धि की स्थिति है। कोई पर्वत और वन की ओर पलायन नहीं

है। फिर पन्त जी ने ऐसा निष्कर्ष कैसे निकाल लिया? वे कहते हैं कि यदि लौट भी आते, तो कुछ नहीं कर पाते। यह भी विचित्र असंगत आरोप है। यह हम सभी जानते हैं कि बिना निवेश (Input) के निर्गत (Output) नहीं होता। वास्तविकता यह है कि मनु की मानसिकता का आनन्दपरक लोकार्पण ही वह निवेश (Input) है, जिसके आधार पर लोक-मांगलिक कर्म (Output) निष्पादित-सम्पादित किए जा सकते हैं। ‘कामायनी’ के इन कथ्यों के पश्चात् जो भी विश्व मंच पर सक्रिय हुआ होगा, चाहे वह इड़ा हो, मानव हो, मनु हो वह श्रद्धा हो या ऐसी सतोगुणी मानसिकता की ऋद्धि-समुद्धि लेकर कोई और! आशय यह है कि जो भी इस संसार में सक्रिय होगा वह मनुष्य और मनुष्यता का कल्याण ही करेगा और उसे उस ऊँचाई तक पहुँचा देगा, जिसके लिए कभी व्यास ने कहा था—“गृह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।” वस्तुतः ‘कामायनी’ की सार्थकता लोक-कर्म में लोक-कल्याण हेतु समर्पित होने के लिए मनुष्य की सतोगुणी मानसिकता का सर्जन है, उसका सही ‘आत्मज्ञान’ प्राप्त करना है। इस तरह यह उस मूल ‘निवेश’ (Input) की महत्वपूर्ण सर्जना है, जिससे लोक-कल्याण का निर्गत (Output) सम्भव हो पाता है। यहाँ संसार में लौटकर कोई क्रान्ति या विद्रोह या संघर्ष नहीं करना है।

पन्त जी ने ‘कामायनी’ पर यह आरोप भी किया है कि उसमें निर्दिष्ट समस्याओं का निदान ‘चिर पुरातन और पिष्टपेषित’ है। पन्त जी यह जानते हैं कि यह निदान केवल पुरातन नहीं, अपितु मानवीय समस्याओं का भारतीय अन्वेषणपरक सनातन और शाश्वत समाधान है। सत्य प्राचीन होने मात्र से उपेक्षणीय नहीं हो जाता। जिसे पन्त जी पुरातन कहते हैं, उसकी तुलना में संसार का कोई भी दर्शन विश्व की शाश्वत समस्याओं का अब तक कोई स्थायी समाधान देने में समर्थ नहीं हुआ है। यदि इसके कारण की पड़ताल करें तो यही पता चलेगा कि उसके मूल में वह ‘निवेश’ (Input) नहीं है, जिसकी अपरिहार्यता हमें प्रत्यायित करती है। ‘कामायनी’ में यह समाधान केवल ज्ञान के स्तर पर, दार्शनिक स्तर-मात्र पर नहीं है, बल्कि वह अनुभावित, घटित और प्रतिफलित है। प्रसाद ने ‘कामायनी’ में जगत की निदारुण समस्याओं की उसके समाधान की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों की विफलता की स्थिति के मूलभूत कारण को ‘ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है/ इच्छा क्यों पूरी हो मन की / एक दूसरे से न मिल सकें / यह विडम्बना है जीवन की’ —जैसी पंक्तियों में निर्दिष्ट किया है। उन्होंने इसका निदान उसी शाश्वत सतोगुणी समाधान के द्वारा ‘रहस्य’ सर्ग में दिया है—“स्वप्न, स्वाप, जागरण भ्रम हो / इच्छा, क्रिया ज्ञान मिल लय थे। / दिव्य अनाहत पर निनाद में / श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।” पन्त जी ने पूर्वग्रस्ततावश भ्रान्त और मिथ्या आरोप तो कर दिया, पर यह नहीं बताया कि सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता में सही सिद्ध होनेवाला वह कौन-सा निदान है, जो

‘इच्छा, क्रिया और ज्ञान’ से एकान्वित है तथा विश्व-मंच पर लोक-कल्याण के लिए समीचीन निवेश (Input) निर्दिष्ट करनेवाला है।

‘कामायनी’ पर पन्त जी का अन्तिम आरोप उसमें ‘जीवन के नवीन यथार्थ और चैतन्य’ के अभिव्यक्त नहीं हो पाने का है। जीवन के नवीन यथार्थ का सरोकार जहाँ युगीन समस्याओं से है, वहाँ चैतन्य का सरोकार उनके समाधान से है। पर क्या ‘कामायनी’ सचमुच इन्हें अभिव्यक्त नहीं कर सकी है? ऐसे में अपार सुख-संग्रह का केन्द्रभूतीकरण, विलास की अतिशय उन्मत्तता, शक्ति का कुमार्गीकरण, प्रकृति और पर्यावरण की मुक्त नियमितता का नियन्त्रणपूर्ण हनन, पद-प्रभुत्व और अधिकार का मद, नियम-निर्माता द्वारा नियम तोड़ने का दम्भ, पुरुष-सत्तात्मक वर्चस्व (पहली पत्नी का त्याग और कुमारिका को अधिकृत कर उससे बलात्कार) विद्रोह और संघर्ष, युद्ध और नर-संहार, ये सब युग-यथार्थ नहीं तो और क्या हैं? क्या यह आदर्श है या मात्र कल्पना है? कहना न होगा कि यह सब जागतिक युग-यथार्थ का ही अभिव्यंजन है, काव्यमय वर्णन-विम्बन है। इस प्रकार पन्त जी का यह आरोप पूरी तरह अविचारित और गलत सिद्ध होता है। रही बात ‘चैतन्य’ की तो ‘कामायनी’ में सही दिशा में चैतन्य की ही खोज है, उसी का गुणात्मक आत्मान्वेषण है, उसी की साधना है और उसी चैतन्य से प्राप्त समाधान का काव्यात्मक निरूपण है। अतः पन्त जी का यह आरोप भी पूरी तरह समीचीन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पन्त जी अपने द्वारा लिखे जा रहे ‘लोकायतन’ काव्य की श्रेष्ठता और महत्ता सिद्ध करने के लिए उसकी पूर्वपीठिका के रूप में ‘कामायनी’ पर ये सारे आरोप कर उस कृति की महत्ता को घटाना चाहते थे। वे ‘लोकायतन’ में संशोधित अन्तरपाठीयता का सहारा लेकर ‘कामायनी’ जहाँ अभिधेयार्थ में समाप्त होती है, उससे आगे की कथा कहते हैं। पर यह कामायनी जैसी काव्यकृति की व्यंजकता ही है, जिसे पन्त ‘लोकायतन’ में अभिधेयात्मक रूप में वर्णित करते हैं—“आओ, श्रद्धा-संग बैठें / युग मनु प्रसाद, पथ सहचर / वह प्रेम-गोत्रजा जो अब चलती शिखरों से भू पर / समरस जड़ चेतन के नट / प्लावित करती जीवन-गति / लौटा लया मानव को / यह सखे, त्रिपुर की परिणति।” और देखो, भू को, जीव-प्रसू को’ के कवि पन्त के यहाँ भी श्रद्धा, मनु मानव की ही कथा आगे बढ़ती है। पर यहाँ पाठक को ‘कामायनी’ की सतोगुणी मानसिक उपलब्धि तथा प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान की समरस परिणति का निवेश नहीं मिल पाता है, वह पूँजी नहीं मिल पाती है, जिसके आधार पर स्थाई लोकमंगल सम्भव है। साथ ही जिसके अभाव में जागतिक समस्याओं का कोई स्थाई समाधान नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः जैसा पहले कहा गया है ‘कामायनी’ द्वारा दिए गए, समाधान का सरोकार हिमालय की बाहरी यात्रा मात्र से न होकर, आन्तरिक यात्रा से है, मनु के मानसिक ऊर्ध्वगमन से है, उसकी चेतना, मानवीय चेतना के ऊर्ध्वीकरण से है। बाहरी हिमालय माध्यम-भर है। यह ‘कैलास’

और ‘हिम-शिखर’ मनु और मनुष्य के शरीर का भीतरी ऊर्ध्वभाग है, जिसे कबीर ने ‘गगन’ कहा है। ‘कामायनी’ में यह अध्यात्म लोक-निरपेक्ष नहीं होकर लोक-सापेक्ष है, जो ‘कामायनी’ में जगह-जगह पर उल्लिखित और रेखांकित भी है। वस्तुतः ‘कामायनी’ एक ध्वनिगर्भित और व्यंजनात्मक काव्य-कृति है, जहाँ लोक-सम्पर्क कई रूपों में मुखर हुआ है और लोक-प्रत्यक्षगमन भी व्यंजित है। पर कवि होकर भी पन्त की भावनात्मक प्रतिभा इसे ग्रहण करने में चूक गई है।

डॉ. कुमार विमल जैसे आलोचक ने भी ‘कामायनी’ और ‘लोकायतन’ के तुलनात्मक सन्दर्भ में ‘वैयक्तिक मोक्ष’ की उपलब्धि पर ही मनु के रुकने की बात की है, जो अनुचित और असंगत है। ऐसा सामरस्यवादी दर्शन को परम्परित शैव दर्शन से शत-प्रतिशत जोड़कर देखने के कारण हुआ है। वे यह भूल गए हैं कि प्रसाद मूलतः कवि हैं। अतः इस दर्शन-विशेष के पारिभाषिकों का आग्रहण उनके लिए आधार और साधन-मात्र है, आधेय और साध्य तो उनकी लोक-समतावाली चेतना है। अध्यात्म का उपयोग व्यक्ति-हित में भी हो सकता है और लोक-हित में भी। पूरी ‘कामायनी’ के कथा-विकास और प्रतिपाद्य को साकल्य (Wholeness) में देखने से यह प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। अतः ‘कामायनी’, ‘वैराग्य’ और ‘मोक्ष’ का काव्य नहीं है। उसकी समरसता और उसका आनन्द दोनों ही लोकोन्मुखी हैं। इसे उस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखने की अपेक्षा है, जिसके लिए बर्ट्रैण्ड रसेल (Bertrand Russel) ने लिखा है कि वे विशेषताएँ, जो आदमी को शेष से विलक्षण बना देती हैं, एक शब्द में कहें, तो सांस्कृतिक हैं। वे समाज से अधिक व्यक्ति-लक्षण रूप कही जा सकती हैं और युद्ध में जीतने की क्षमता या समाज में अनुगत रहने की क्षमता से भिन्न तत्त्वों का उसमें समावेश होता है।” ‘कामायनी’ का मनु ‘आत्म-अभिज्ञान’ या ‘प्रत्यभिज्ञा’ के माध्यम से इस सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को आयत्त कर विलक्षणता प्राप्त करता है। यह विलक्षणता उसे बलात्कारी कामेच्छा और युयुत्सा से परे अहिंसक और शान्त बनाती है। साथ ही समाज की अनुगतता से परे समाज को व्यक्ति की मानसिकता में रूपान्तरित कर समत्ववादी लोकमांगलिकता से सम्पन्न करने हेतु अपनी तैयारी करती है।

छायावादोत्तर कवि रामधारी सिंह दिनकर ने तो ‘कामायनी’ के दार्शनिक पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष—दोनों पर खुलकर आरोप किए हैं। पर इन आरोपों में उनका पूर्वग्रह स्पष्ट दिखता है। उनके द्वारा ‘कामायनी’ के अभिव्यक्ति-पक्ष पर किए गए आरोपों की प्रत्यालोचना में बहुत पहले अन्यत्र कर चुका हूँ। अतः यहाँ मैं ‘कामायनी’ के दर्शन और प्रतिपाद्य-विषयक उनके आरोपों पर ही विचार कर रहा हूँ। दिनकर का पहला आरोप है कि मनु का संघर्ष मानव का संघर्ष है, किन्तु इस संघर्ष का ‘कामायनी’ समाधान क्या देती है? मनु ने काफी संघर्ष झेला, किन्तु अन्त में इड़ा के व्यवहार से दुःखी होकर वे संसार से भाग गए।” ...“संसार में चूँकि विषमताएँ और संघर्ष बहुत हैं, इसलिए संसार से भाग चलो। जहाँ आग है, जलने की सम्भावनाएँ भी

वहीं होती हैं। अतएव आग से बचने को हिमालय की गुफा में जा बसो। लेकिन बाहर की आग से तो भागकर बचा जा सकता है, किन्तु भीतर की आग से बचने का क्या उपाय है? वह तो हिमालय की गुफा में भी मन को दग्ध कर सकती है।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’ : दोष-रहित, दूषण-सहित, पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण-दिनकर) मुझे आश्चर्य है कि कामायनीकार से समस्याओं के समुचित समाधान की माँग करनेवाला और उसके द्वारा समझाए गए समाधान को पलायनवादी और असंगत माननेवाला यही कवि-आलोचक जब अपनी नाट्य-काव्यकृति ‘उर्वशी’ की रचना करता है, तब वह उसकी ‘भूमिका’ में लिखता है—“प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है।” और इस तरह वह स्वयं को वहाँ समाधान देने के दायित्व से मुक्त कर लेता है।

अब जरा रुककर दिनकर के आरोप पर विचार कर लें। दिनकर मनु को ‘इड़ा’ के व्यवहार से दुःखी होकर भागनेवाला’ कहते हैं। पर इस आरोप की आधार-भूमि ही गलत है। सत्य तो यह है कि मनु स्वयं इड़ा को अपने दुर्व्यवहार से दुःखी करता है। अधिकारी-अधिकृत के सम्बन्ध से वह इड़ा को पाना चाहता है। अस्वीकृति में वह उस पर बलात्कार तक करता है। (अपनी दुर्बलता में मनु तब हाँफ रहे थे, / स्वलन-विकम्पित पद वे अब भी काँप रहे थे।”) फिर वह भागता नहीं, संघर्ष करता है, हनन करता है और घायल होता है। उसे स्वप्न-भीत श्रद्धा खोजती हुई आती है। मिलन होता है। फिर मनु श्रद्धा को छोड़ आने पर पश्चात्ताप करता है। पर संघर्ष सर्ग के अन्त में मनु भागता है। पर इड़ा के कारण नहीं, स्पष्टतः श्रद्धा के कारण—“श्रद्धा के रहते यह सम्भव / नहीं कि कुछ कर पाऊँगा / तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको / जहाँ, खोजता जाऊँगा।” पर श्रद्धा पुनः मनु को खोज लेती है। यहाँ श्रद्धा आग्रहपूर्वक मनु को अपने साथ ले चलती है—“तब चलो जहाँ पर शान्ति प्राप्त / मैं नित्य तुम्हारी, सत्य बात।” यहीं श्रद्धा ले चलने की प्रक्रिया में मनु का स्पर्श करती है तथा उसमें ‘शक्तिपात’ करती है। श्रद्धा उसे हाथ पकड़कर ले चलती है। पर यह अंश यहाँ व्यंग्य है, गम्य है, अभिधेय नहीं है। अतः दिनकर का यह आरोप गलत है कि मनु भाग गए। वे संघर्ष के बाद इड़ा के कारण नहीं, श्रद्धा से दृष्टि नहीं मिला सकने के कारण और श्रद्धा के आगे वह स्वेच्छया कुछ नहीं कर पाने की अपनी असमर्थ स्थिति में आ जाने के कारण भागे। पर इस भागने में न तो वे हिमालय की गुफा में गए और न हिमालय के शिखर पर। उन्हें हिमालय (आन्तरिक) पर तो श्रद्धा ले गई। श्रद्धा के द्वारा ‘शक्तिपात’ किए जाने के पश्चात् मनु की मानसिक यात्रा आरम्भ हो गई, जिसका गन्तव्य आन्तरिक ‘हिमालय’ था। इधर हिमालय की सतत् बाहरी यात्रा भी चलती रही।

दिनकर यहाँ यह स्थापना तो करते हैं कि मनु का संघर्ष मनुष्य जाति का संघर्ष है, पर इस संघर्ष की प्रकृति और इसके हेतु को वे नहीं देख पाते हैं। मूलतः यह संघर्ष अधिकार-मद के कारण, स्वच्छन्द, कामान्ध उपभोग की प्रवृत्ति के कारण और व्यवस्था

के नियमों का निर्माता होकर भी अनुपालन नहीं कर पाने का परिणाम है। यहीं दैव/प्रकृति-प्रकोप से शरण माँगने आई प्रजा को विद्रोही समझकर उसे शस्त्र से दमित करने का प्रयास किया जाता है। इसके मूल में चंचल मन है, मनुष्य की स्वच्छन्द ‘इच्छा’ और उसका ‘अहंकार’ है। क्या दिनकर ‘कामायनी’ से इस मूल कामान्धता का समाधान चाहते हैं? ‘कामायनी’ इसके सामाधन में ‘मन’ को रूपांतरित करती है। फ्रायड के ‘इदम’ और अहम को सुप्राहम में स्थायी तौर पर रूपान्तरित करती है? यह मनु की रजोगुणी प्रकृति का सतोगुण में रूपान्तरण है। इसलिए मानसिक ऊर्ध्व आरोहण होता है। इसीलिए स्थायी प्रत्यभिज्ञान करानेवाले सामरस्यवादी दर्शन के आलोक में आन्तरिक हिमालय की यात्रा होती है। पर दिनकर ‘कामायनी’ के काव्य-पाठ की इस गहराई में नहीं जा पाते और उस पर अपने सतही अर्थ-बोध के कारण आरोप कर डालते हैं, जो पूरी तरह अयुक्तियुक्त और असंगत है, साथ ही पूर्वग्रस्त भी। दिनकर मानते हैं कि ‘कामायनी’ में बाहरी आग से बचाने के लिए मनु हिमालय की गुफा में भाग जाते हैं। अतः वे प्रश्न करते हैं कि भीतरी आग का क्या होगा? वह तो हिमालय की गुफा में भी विद्यमान रहेगी! काश! दिनकर समझ पाते कि ‘कामायनी’ में निरूपित ‘प्रत्यभिज्ञा’ दर्शन की सहायता से मनु आत्मशोधन ही करते हैं, वे भीतरी आग को ही शमित करते हैं, जिससे बाहरी आग से भी मनुष्य निष्प्रभावी रह सके! तभी उन्हें समत्ववादी दृष्टि प्राप्त हो पाती है, क्योंकि मनु में अहन्ता, स्वार्थपरक ममता, अपने-पराए का भेद-भाव, कामवासना—इन सबकी भीतरी आग शमित हो चुकी होती है। अतः दिनकर मूलतः ‘कामायनी’ के पाठ को उसकी गहन तलान्वेषिता में नहीं समझ पाने और पूर्वग्रस्त रूप में उसे भ्रान्ततः ग्रहण करने के कारण आधारहीन और असंगत आरोप कर बैठते हैं।

दिनकर जी का दूसरा आरोप है—“क्या यह संन्यास, यह पराजय की भावना नवयुग की चिन्तनधारा के अनुकूल मानी जा सकती है?” ... “कामायनी का अन्तिम सन्देश नवयुग की विचारधारा के अनुकूल नहीं है। संसार छोड़कर मुक्ति के लिए वन में जा बसना और कृच्छ्र वैराग्य-साधना के द्वारा वैयक्तिक सन्तोष प्राप्त करना यह परिपाटी उपनिषदों के समय चली और बौद्ध तथा जैन मतों ने इसका चरम विकास किया।” ...इसलिए ‘कामायनी’ का संन्यासवाला समाधान नवयुग को ग्राह्य नहीं हो सकता। ... इस रोग-निवारण का जो मार्ग ‘कामायनी’ में बतलाया गया है, वह नवयुग का मार्ग नहीं है।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’ : दोष-रहित दूषण-सहित’, प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण-दिनकर) पर ऐसे में क्या दिनकर ‘कामायनी’ की मूल समस्या—‘उच्छृंखल कामोन्माद’—को साम्यवाद या समाजवाद से शमित करने के पक्षधर हैं और इसे नवयुग के लिए ग्राह्य समाधान माना जा सकता है?

दिनकर ‘कामायनी’ को पराजय का, संन्यास का और मुक्ति की तलाश का काव्य मानते हैं। परन्तु कामायनीकार ने ‘कामायनी’ को कहीं भी पराजय की भावना

से ग्रस्त नहीं दिखाया है और न ही इसे कहीं भी संन्यास और निजी मुक्ति का काव्य ही निरूपित या घोषित किया है। दिनकर जी को उपनिषदों के मूल सन्देश को समझने में भी भूल हुई है। उपनिषदों से 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' का सन्देश प्राप्त होता है। उपनिषदों ने घोर संयम और घोर उपभोग का निषेध करते हुए आत्मपरिष्कार का मार्ग दिखाया है। उपनिषदों में निवृत्तिमार्गी संन्यास का सन्देश नहीं है, अपितु वह प्रवृत्तिपरक सन्देश है, जिसकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता करती है। यह कर्मयोग का सन्देश है, पर यह सन्देश अपनी प्रकृति में सतोगुणी है। गीता में वह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य इस संसार में जितने भी प्रकार का कर्म सम्पादित करता है, वह कर्म उसकी प्रकृति सम्पन्न करती है। यह 'प्रकृति' त्रिगुणात्मिका है—तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी। इस दृष्टि से कर्म भी तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी होते हैं। उपनिषद् और गीता और सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति तमोगुण को परित्यागने, रजोगुण को नियन्त्रित करने और सतोगुण को अपनाने का सन्देश देती है और उस दिशा में चलने हेतु मनुष्य को प्रवृत्त करती है। इसी त्रिगुणात्मक दृष्टि से 'गीता' में श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धृति, कर्ता और सुख के तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी—जैसे तीन-तीन भेद किए गए हैं। 'कामायनी' का मनु प्रलय के उपरान्त निष्क्रिय, तमोगुणी प्रकृति का है। पुनः वह श्रद्धा की प्रेरणा से तथा इड़ा के संसर्ग में आकर पूरी तरह रजोगुणी हो जाता है। श्रद्धा जब पुनः उसे खोज लेती है, तब उसका आत्मपरिष्कार कर उसे सतोगुणी बना देती है। 'कामायनी' मनु के शील (Traits) की इस त्रिगुणात्मक यात्रा की कथा है। मानवता की कोई भी भलाई, लोक का कोई भी कल्याण रजोगुणी कामान्धता, अहम्भन्यता, अधिकार-मद, संघर्ष और युद्ध के द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिए व्यक्ति के भीतर सतोगुण का विकास अपेक्षित है। उसे सतोगुणी बनाकर, उसका आत्मशोधन करके ही समत्ववादी दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। बाहरी संघर्ष कर समानता नहीं लाई जा सकती। बाह्य संघर्षवाला समाधान अस्थिर और अस्थायी है। इसकी अपेक्षा आन्तरिक परिष्कारवाला समाधान स्थायी और चिरन्तन समाधान है। अतः 'कामायनी' में यदि पलायन है, तो वह तमोगुण और रजोगुण से पलायन है और उसका गन्तव्य वन्य हिमालय का शिखर न होकर आन्तरिक हिमालय का सतोगुणी शिखर है। और यह सतोगुण वैयक्तिक मुक्ति देनेवाला नहीं, बल्कि लोक-कल्याण हेतु मनुष्य का आन्तरिक और मानसिक रूपान्तरण करने-करानेवाला है। मनु के उपलब्ध व्यक्तित्व का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए। साथ ही श्रद्धा के सतोगुण से पूर्णतः उपेत श्रद्धा-पुत्र 'मानव' को इड़ा के पास छोड़ना भी रजोगुण के श्रेयस्कर अंश को सन्तुलित रूप में ग्रहण कर सतोगुणी लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने का ही परिचायक और सन्देशवाहक है। यह किसी भी रूप में और किसी भी प्रकार से पलायन और वृत्ति का सूचक नहीं है।

दिनकर जी ने 'कामायनी' में प्रसाद द्वारा निरूपित लोक और मानव के हित में प्रस्तावित प्रत्यभिज्ञात्मक (Self-recognized) समाधान को नवयुग की विचारधारा के अनुकूल नवयुग को अग्राह्य और नवयुग के मार्ग से अन्तरित कहा है। पर वास्तविकता यह है कि दिनकर प्रसाद द्वारा निरूपित कामादि की समस्या हेतु इस समाधान के स्वरूप का ही सम्यक् बोध नहीं कर पाए हैं। तभी वे बहुजन हिताय आत्मपरिष्कार-जन्य मनु के सतोगुणी शील को पलायन, निवृत्ति, वैराग्य और निजी मुक्ति से जोड़ बैठे हैं। उन्होंने इसके अतिरिक्त साधन को साध्य मान लेने की भी भूल की है। 'कामायनी' में मनु का प्रत्यभिज्ञात्मक सतोगुणी विकास साधन है, साध्य नहीं; साध्य तो समत्व दृष्टि से सम्पन्न होकर लोक-मंगल का श्रेयस् सम्मान करना है। वहाँ साधन की प्राप्ति तक की स्पष्ट यात्रा है और साध्य संकेतात्मक रूप में व्यंजित है, क्योंकि 'कामायनी' मुक्तान्त काव्यकृति है, वह बद्धान्त काव्यकृति नहीं है। अब रही दिनकर द्वारा बार-बार नवयुग की दुहाई देकर 'कामायनी' पर आरोप करने की बात; पन्त की तरह दिनकर को भी ऐसा लगता है कि संसार की मूलभूत वर्तमान समस्याओं का नवयुग के अनुरूप जो भी समाधान दिया जा सकता है, उसे अनिवार्यतः बाहरी होना चाहिए। पर कामायनीकार ने यहाँ जो समाधान प्रस्तुत किया है वह मानवीय समस्याओं का शाश्वत और सनातन समाधान है। वह कालांकित न होकर कालातीत समाधान है। आज के जटिल और कुटिल मानवीय परिवेश में ऐसे समाधान की पूरी प्रासंगिकता और सार्थकता है, इसे दिनकर नहीं देख-समझ पाए हैं। 'कामायनी' में जो नवयुग के लिए सन्देश निहित है, वह यही कि बाह्य संघर्ष से स्वार्थ-विहीन मानवीय समानता की प्राप्ति नहीं की जा सकती। वहाँ जो एक तात्कालिक व्यवस्था नजर आती है, वह बस नितान्त तात्कालिक होती है। उसमें स्थायिता नहीं होती। वहाँ उसी तात्कालिकता से फिर असमानता प्राप्त होने लगती है; किन्तु जो आन्तरिकता से प्राप्त समरसता होती है, समदृष्टि होती है, वह स्थायी तौर पर समानता की दृष्टि देती है।

'कामायनी' में, कर्म की स्वार्थ-संघर्षपूर्ण भीषणता को दिखलाकर उसकी जो उपेक्षा की गई है, उसे दिनकर कर्म की निन्दा मानते हुए 'कामायनी' पर आरोप करते हैं —“रहस्य सर्ग में जब श्रद्धा मनु को कर्म-लोक का वर्णन सुनाती है, तब मनु सहसा घबरा जाते हैं और कर्म के प्रति अपनी घोर घृणा व्यक्त करते हुए कह उठते हैं—‘बस अब और न इसे दिखा तू / यह अति भीषण कर्म जगत् है।’ ... “आश्चर्य हमें तब होता है, जब हम यह देखते हैं कि कर्म-लोक का परिचय देते हुए श्रद्धा भी ऐसी बातें कह जाती है, जिससे कर्म की निन्दा ध्वनित होती है—“श्रममय कोलाहल पीड़ा न मय / विकल प्रवर्तन महायन्त्र का / क्षण भर भी विश्राम नहीं है / प्राण दास है क्रिया-तन्त्र का। यहाँ सतत संघर्ष, विफलता / कोलाहल का यहाँ राज्य है / अन्धकार में दौड़ लग रही / मतवाला यह सब समाज है।” (पूर्ववत्) दिनकर इस कर्म की तुलना 'इच्छा' से करते हैं और कहते हैं कि जब मनु 'इच्छा लोक' को देखते हैं, तब उन्हें यह घृणा नहीं

होती, क्योंकि इच्छा की सृष्टि सुन्दर है। इस प्रकार दिनकर 'इच्छा' के प्रति प्रसाद के पक्षपात (?) पर आरोप करते हैं।

कहना होगा कि दिनकर के इस आरोप के मूल में भी उनका 'कामायनी' का पाठ-विषयक भ्रान्त बोध ही सक्रिय है। वस्तुतः उनकी भावन-क्षमता 'इच्छा' और 'कर्म' को खंड-खंड में अलग कर ही देख पाती है और साकल्य में, पारस्परिकता में उसे अनुस्यूत करने से रह जाती है। दिनकर 'कर्म' के इस संघर्ष को 'इच्छा' से जोड़कर नहीं देख पाते हैं। इस संघर्षमय 'कर्म' के मूल में यह 'इच्छा' ही तो है, जो उसे इस 'कार्य' के लिए अभिप्रेरित करती है। इस भीषण कर्मलोक की ओर प्रेरित करनेवाली 'इच्छा' मूलतः रजोगुणी है—“नियति चलाती कर्म-चक्र यह / तृष्णा-जनित ममत्व-वासना”... “आकांक्षा की तीव्र पिपासा / ममता की यह निर्मम गति है।” ... “बड़ी लालसा यहाँ सुयश की / अपराधों की स्वीकृति बनती।” यहाँ प्रसाद ने 'कर्म' को 'तृष्णाजनित ममत्व-वासना', 'आकांक्षा की तीव्र पिपासा' और 'सुयश की लालसा' कहकर इसे इच्छा से ही अभिप्रेरित-परिचालित बताया है। यही नहीं, 'इच्छा लोक' का निरूपण करते हुए भी प्रसाद ने उसे “मायाराज्य! यही परिपाटी / पाश बिछाकर जीव फाँसना” कहकर उसे कर्म से जोड़ दिया है। इस प्रकार यह 'इच्छा' ही है, जो भीषण कर्म-व्यापार का 'ब्लूप्रिंट' तैयार करती है और मनुष्य को स्वानुरूप कर्म करने के लिए प्रेरित और प्रवृत्त करती है। यह 'इच्छा' यद्यपि अपने स्वरूप में तो लुभावनी है पर अपनी क्रियात्मक पूर्ति में भीषण परिणाम उपस्थित करनेवाली है, क्योंकि यह मूलतः रजोगुणी है। 'रहस्य' सर्ग में आन्तरिक यात्रा के क्रम में जब मनु श्रद्धा से यह पूछता है कि श्रद्धे, मैं अब किस लोक में पहुँच गया हूँ और ये नए ग्रह कौन-कौन हैं, तब श्रद्धा मनु से कहती है—“इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम / शक्ति विपुल क्षमतावाले ये; / एक-एक को स्थिर हो देखो / इच्छा, ज्ञान, क्रियावाले ये।” यहाँ 'त्रिकोण' शब्द का प्रयोग ही यह बता देने में समर्थ है कि ये तीनों परस्पर अन्तरावलम्बित हैं। इसी सर्ग में आगे चलकर श्रद्धा मनु को कहती है—“यही त्रिपुर है देखा तुमने / तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने; / अपने केन्द्र बने दुख-सुख में / हुए हैं ये सब कितने।

'कर्म' की भीषणता का रहस्य एक और तथ्य में भी निहित है। कर्म प्रायः दो प्रकार के होते हैं—1. अपकर्म और 2. सत्कर्म। अपकर्म प्रायः तमोगुणी और रजोगुणी होते हैं, जबकि सत्कर्म सतोगुणी होते हैं। 'रहस्य' सर्ग में जिस भीषण कर्म-लोक का वर्णन है, जहाँ स्वार्थ-लोलुप समाज मतवाला बना है, वह अपकर्म-प्रधान कर्म-लोक ही है। श्रद्धा ने इस 'इच्छा' के मारक कर्मलोक को ही मनु को दिखलाया है। यह स्वार्थ की इच्छाओं की पूर्ति हेतु निरन्तर संघर्षरत कर्मलोक है। विचारणीय यह भी है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में अकर्मण्यता की भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया है। 'रहस्य' सर्ग में निरूपित इस कर्मलोक का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाकर सत्कर्म की दिशा में उन्मुख करनेवाला है। पर मनुष्य से सत्कर्म तभी सम्भव है, जब

उसकी मानसिकता में स्थायी गुणात्मक परिवर्तन हो चुका हो, उसे आत्मज्ञानपरक, प्रत्यभिज्ञात्मक समत्व बुद्धि प्राप्त हो चुकी हो—“स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो / इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे; / व्यि अनाहत पर निनाद में / श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।” दिनकर यह उल्लेख भी करते हैं कि प्रलयोपरान्त श्मशान वैराग्य भाव से भरे मनु को अकर्मण्यता से मुक्त कर कर्मोन्मुख करने के लिए जिस श्रद्धा ने फटकार लगाई थी, उसी श्रद्धा ने यहाँ कर्म की निन्दा और उपेक्षा क्यों की है? पर दिनकर सन्दर्भ-भेद को नहीं समझ पाते हैं। पहले सन्दर्भ में श्रद्धा ने मनु को तमोगुण से मुक्त कर रजोगुण की ओर प्रवृत्त किया। वहाँ भी उसने मनु को उसके इस कथन—“‘तुच्छ नहीं है अपना’ सुख भी / श्रद्धे वह भी कुछ है”—के बाद इस रजोगुण को सतोगुण से परिचालित कराना चाहा—“अपने में सब-कुछ भर कैसे / व्यक्ति विकास करेगा? / यह एकान्त यथार्थ भीषण है / अपना नाश करेगा / औरों को हँसते देखो मनु / हँसों और सुख पाओ / अपने सुख को विस्तृत कर लो / सबको सुखी बनाओ।” पर मनु से इस सतोगुणी लोक-कल्याणात्मक परामर्श को नहीं माना। बाद में श्रद्धा इसी मनु को उसकी मानसिकता में रूपान्तरित करने, उसे घोर रजोगुणी से सतोगुणी बनाने में सफल होती है। इस प्रकार 'कामायनी' की दार्शनिकता पर दिनकर द्वारा किए गए सारे आरोप निराधार सिद्ध होते हैं। विडम्बनात्मक स्थिति तो तब सामने आती है जब दिनकर 'उर्वशी' की भूमिका में स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि “श्रेष्ठ कविता बराबर भौतिक से परे आधिभौतिक होकर सौन्दर्य का संकेत देती है, (वह) फिजिकल को लाँघकर मेटाफिजिकल हो जाती है।” ऐसे में दिनकर द्वारा 'कामायनी' के 'मेटाफिजिकल' समाधान को नवयुग की विचारधारा के प्रतिकूल मानते हुए प्रसाद से मानसिक समस्या हेतु 'फिजिकल' समाधान की अपेक्षा रखना कहाँ तक औचित्यपूर्ण माना जा सकता है।

माक्सवादी कवि-चिन्तक मुक्तिबोध ने भी 'कामायनी' के दार्शनिक समाधान को खारिज करते हुए उस पर आरोप-पर-आरोप किए हैं। उनका आरोप कामायनी के कथानक, पात्र और जीवन-जगत की समस्याओं के दार्शनिक समाधान-तीनों पर है। पर यहाँ उनके आरोपों की तथ्यगतता को जाँचने-परखने के पूर्व उनके अधोलिखित दो मन्तव्यों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। प्रथम मन्तव्य—“ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में 'कामायनी' ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाजनीति और राजनीति के क्षेत्र में नए साहसी प्रयासों को लेकर निर्द्वन्द्व रूप से आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मन्तव्य (मुक्तिबोध द्वारा की गई आलोचना) उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।” (कामायनी : 'कुछ नए विचार', आलोचना, अक्टूबर, 1952) यहाँ मुक्तिबोध ने चार बातें कहीं हैं। तीन बातें 'कामायनी' के विषय में और चौथी बात अपने मन्तव्य के विषय में हैं। उनके अनुसार 1. पूरे छायावाद में 'कामायनी' समाजनीति और राजनीति

को निरूपित करनेवाला अकेला काव्यग्रन्थ है। 2. छायावाद में यह उनका साहसी प्रयास है। 3. 'कामायनी' में जीवन-जगत की समस्याओं के समाधान का निर्द्वन्द्व रूप में प्रस्तुतीकरण भी एक साहसी प्रयास है। मुक्तिबोध की ये तीनों बातें 'कामायनी' और प्रसाद की प्रशंसा में जाती हैं। पर इतना लिखने के तुरन्त बाद मुक्तिबोध बताते हैं कि इसीलिए मेरे द्वारा ऊपर किए गए आरोपों की आवश्यकता है यानी उनके आरोप बेमानी और गैर जरूरी नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि यदि उनके आरोपों की सार्थकता है, तो उन्हें 'कामायनी' 'समाजनीति' और 'राजनीति' को प्रतिपाद्य के रूप में रेखांकन करने, इस क्षेत्र में उनके 'नए साहसी प्रयासों' का उल्लेख करने और 'निर्द्वन्द्व' (सुनिश्चित, सोद्देश्य) रूप में आगे बढ़ने जैसे कथन का क्या औचित्य है? यह औचित्य तो तब होता, जब वे यहाँ 'वैयक्तिक मुक्ति या कि संन्यास' जैसे प्रतिपाद्य का रेखांकन करते, 'नए साहसी प्रयासों की जगह पुरातन उद्भ्रान्त प्रयासों' का उल्लेख करते और 'पलायनवादी के रूप में' आगे बढ़ने का कथन करते! द्वितीय मन्तव्य—“प्रसाद जी कवि-मनीषी थे। उनके काव्यों की शैव-दार्शनिक व्याख्या करना ज्यादाती है। हाँ, यह सही है कि उन्होंने उस दर्शन से कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण किए, किन्तु कवि-दृष्टि के सम्मुख जीवन-तथ्यों के अनुसार उन्होंने उसमें नए अर्थ भर दिए।” ('कामायनी : एक पुनर्विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-275) मुक्तिबोध के इस मन्तव्य को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि उक्त टिप्पणी में मुक्तिबोध 'कामायनी' के पाठ (Text) को सही पाठकीय-भावकीय दिशा में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। पर उनका आरोप कामायनी की उस शैव-दार्शनिक व्याख्या पर ही आधारित है, जिसका वे यहाँ निषेध करते हैं। दूसरे, इस दर्शन के जिन-कुछ पारिभाषिकों को प्रसाद ने 'कामायनी' में व्यवहृत किया है और उनमें जो नए अर्थ भरे हैं, उसका सामान्य सूचीकरण तो यहाँ मुक्तिबोध कर बैठते हैं, पर उसकी सम्यक् पहचान और परख मुक्तिबोध नहीं कर पाते हैं। 'कामायनी' में प्रसाद जो कुछ कहना चाहते रहे हैं या प्रतिपादित कर रहे हैं, मुक्तिबोध उसे ग्रहण नहीं कर अपने पूर्वग्रह के कारण उसे कुछ और समझ ले रहे हैं। तभी वे 'कामायनी' के दर्शन और उस पर आधारित समाधान पर आरोप-पर-आरोप कर बैठते हैं। वस्तुतः यह टिप्पणीकर्ता मुक्तिबोध और आरोपकर्ता मुक्तिबोध का अन्तर्विरोध है।

पहले 'कामायनी' के दर्शन और उस पर आधारित समाधान पर मुक्तिबोध द्वारा किए गए आरोपों पर एक-एक कर विचार कर लें। मुक्तिबोध का पहला आरोप है—“उसका (प्रसाद का) अन्तिम समाधान, निदान वही रहस्यवादी था। यह कोई निदान या समाधान न था, क्योंकि वह इस क्षेत्र से सम्बन्ध नहीं रखता था, जिस क्षेत्र से उद्गत वे समस्याएँ थीं।” (द्रष्टव्य : 'कामायनी : एक पुनर्विचार'-13, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यह आरोप दो मूलभूत बिन्दुओं पर आधारित है। पहला मूल बिन्दु

है कि 'कामायनी' में निरूपित और निर्दिष्ट समाधान या कि निदान भौतिक और यथार्थवादी नहीं है। वह अमूर्त और रहस्यवादी है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि यह निदान वही पुराना निदान है, जिसे पहले भी भारतीय दर्शन में निर्दिष्ट किया जा चुका है। वास्तविकता यह है कि यह समस्या तो आपाततः बाहरी दिखती है, पर मानसिक समस्या ही है, अतः उसका निदान भी भीतरी है, क्योंकि इस जैसी समस्या को बाह्य निदान से हल नहीं किया जा सकता है। यहाँ आन्तरिक निदान ही स्थायी और चिरन्तन या कि सनातन निदान बन पाता है। ऐसी क्षमता बाह्य समाधानों में नहीं होती है। ऐसा समाधान तात्कालिक तो हो सकता है, पर वह स्थायी तौर पर स्थिर नहीं रह पाता है और समस्या पुनः सिर उठा लेती है, जबकि आन्तरिक समाधान का सरोकार मानसिकता से होता है। इस आरोप का दूसरा बिन्दु भी बाह्य बनाम आन्तरिक की संगति को नहीं देखने के कारण ही उभरता है। यह सच नहीं है कि 'कामायनी' में निरूपित समस्याओं का सरोकार बाह्य जीवन-जगत से है, समाज, शासन-व्यवस्था और राजनीति से है, इससे भी पीछे चलें तो परिवार से भी है, क्योंकि यह सदैव अन्तर्जगत् से परिचालित है। पर मुक्तिबोध चाहते हैं कि इसका समाधान भी बाह्य व्यवस्था-परिवर्तन से सरोकार रखनेवाला हो। यहाँ वे वह भूल जाते हैं कि इन समस्याओं का जनक, इनका मूल कारण मनुष्य का अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) है। मनुष्य की प्रकृति में तमोगुण और रजोगुण की अतिशयता तथा सतोगुण का नितान्त अभाव ही इन समस्याओं को जन्म देता है। अतः समस्याओं के जनक को, उसके मूलभूत कारण को मिटाना, उसे निरस्तित्व करना अत्यन्त अपेक्षित है। यदि मुक्तिबोध इस वस्तुस्थिति को समझ सकते, तो वे इन समस्याओं के उद्गम-स्थल से समाधान को असम्बद्ध और फलतः असंगत घोषित नहीं कर बैठते।

मुक्तिबोध का दूसरा आरोप है—“प्रसाद जी का दर्शन एक ऐसी भाव-व्यवस्था का नाम है, जो भाव-व्यवस्था व्यक्तियों को अपनी समस्याओं से मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो दिला सकती है, किन्तु उसकी उन समस्याओं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकती। ... प्रसाद जी के दर्शन ने सब जगह गड़बड़ की है।” (पूर्ववत्) यहाँ मुक्तिबोध ने प्रसाद के दर्शन को 'भाव-व्यवस्था' कहा है। इससे मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो मिल सकता है, पर समस्याएँ निर्मूल और निरस्तित्व नहीं हो सकती हैं। इस आरोप के सन्दर्भ में पहले मुक्तिबोध की अपनी एक कविता (अँधेरे में) के विषय में उनके ही द्वारा की गई टिप्पणी द्रष्टव्य है, “अब कविता कोई निबन्ध तो है नहीं, जिसमें लोगों को आज के हाल की जानकारी मिले, न वह कोई नाटक है, जिसमें पात्र प्रस्तुत होकर पूर्ण रूप से जीवन-यथार्थ उपस्थित करते हैं। कविता, एक संगीत को छोड़कर अन्य सब कलाओं से अधिक अमूर्त है। वहाँ जीवन-संघर्ष केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है या बिम्ब या विचार बनकर। कविता के भीतर की सारी नाटकीयता

वस्तुतः भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार कविता के भीतर कथा-तत्त्व भी भाव का इतिहास है।” (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-158) स्पष्ट है कि मुक्तिबोध की उक्त मान्यता के आलोक में उनका प्रसाद पर किया गया आरोप अन्तर्विरोधी सिद्ध होता है। उनकी अपनी कविता के सन्दर्भ में जीवन-संघर्ष ‘भाव’ बन सकता है, भीतरी नाटकीयता ‘भावों की गतिमयता’ का रूप ले सकती है और कथा-तत्त्व ‘भावों का इतिहास’ बनकर उपस्थित हो सकता है, तो वे ‘कामायनी’ के दर्शन-जन्य समाधान वाली ‘भाव-व्यवस्था’ को अनुपयुक्त और असंगत क्यों मानते हैं? सच्चाई यह है कि ‘कामायनी’ का दर्शन एक अपेक्षित और उपयोगी विचार-पीठिका पर आधारित है, जो—अन्तःकरण की स्वेच्छाचारिता को, उसकी ऐसी भाव-व्यवस्था को नियन्त्रित करता है। दूसरे, यह दर्शन जो समाधान देता है, वह मनु के तुष्टीकरण का, उसे बहलाने का कोई तथाकथित मनोवैज्ञानिक समाधान नहीं है। तीसरे, यह दर्शन व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण, उसके ‘अन्तःकरण’ के गुणात्मक परिवर्तन का कारक है, जिसकी सफलता समस्या को बराबर के लिए निर्मूल और निरस्तित्व कर देती है। मार्क्सवादी दर्शन संघर्ष और हिंसा का मार्ग पकड़कर भी इस समस्या को निर्मूल और निरस्तित्व नहीं कर सकता है, क्योंकि वह ‘अन्तःकरण’ को रूपान्तरित नहीं कर सकता है। रूस में मार्क्सवादी विचारधारा की सरकार के रहने के बावजूद यह समस्या पुनः सिर उठाती है, ‘पेत्रोइस्का’ घटित होता है और मार्क्सवादी समाधान पराजित होता है। मुक्तिबोध मार्क्सवादी दर्शन की इस दुर्घटना को नहीं देख सके। गड़बड़ तो यहाँ उपस्थित होती है। इसके विपरीत ‘प्रत्यभिज्ञा’ पर आधारित प्रसाद का दर्शन बाहर की जगह भीतर से मनुष्य को रूपान्तरित करता है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन कर जीवन-जगत की समस्याओं का स्थायी समाधान होता है। अतः मुक्तिबोध का उक्त आरोप निराधार, अयुक्तियुक्त और तर्कहीन है।

मुक्तिबोध का तीसरा आरोप है—“कामायनी में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का वास्तविक सामंजस्य कहीं बताया ही नहीं गया है। ...वैसा होना असम्भव ही था, क्योंकि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य वास्तविक जीवन-क्षेत्र में होता है, न कि संसार के पलायन करके हिमालयीन शिखरों पर। ... यह सामंजस्य आगे के सर्गों में दृश्यमान नहीं है। इसलिए मूलतः कामायनी का सन्देश अकर्मक है, यही नहीं वरन् वह अकर्मकता को दार्शनिक आवरण में प्रस्तुत करता है।” (पूर्ववत्) यहाँ मुक्तिबोध का आरोप है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय, इसका सामंजस्य प्रसाद ने ‘कामायनी’ में नहीं दिखाया है। यह सामंजस्य वास्तविक जीवन में होता है, हिमालय की चोटी पर नहीं। आगे के सर्गों में यह नहीं दिखता है। इसलिए ‘कामायनी’ का सन्देश अकर्मकता का सन्देश है। पर वस्तुस्थिति को देखें, तो ‘रहस्य’ सर्ग के उपरान्त में ज्ञान, क्रिया और इच्छा की भिन्नता वाली पंक्तियाँ आती हैं—“ज्ञान दूर, कुछ क्रिया

भिन्न है / इच्छा क्यों पूरी हो मन की; / एक दूसरे से न मिल सके / यह विडम्बना है जीवन की।” इसके बाद इस सर्ग में केवल पाँच चरण आते हैं, यानी महज बीस पंक्तियाँ! मुक्तिबोध ने यदि ध्यान दिया होता, तो इसी सर्ग के अन्तिम चरण की दूसरी पंक्ति में इनका सुमेल और सामंजस्य उन्हें मिल जाता, जिसे स्पष्ट तौर पर प्रसाद ने दिखला दिया है—“स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो / इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे; / दिव्य, अनाहत पर निनाद में / श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।” प्रसाद ने जहाँ पहले ‘त्रिपुर’ के तीन ज्यातिर्मय बिन्दुओं को अपने दुःख-सुख में केन्द्रित रहने के कारण ज्ञान, क्रिया और इच्छा की भिन्नता को निरूपित किया है, वहीं उस ‘त्रिकोण’ को शक्ति-तरंग से निखरकर गठित होने पर ‘इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे’ की स्थिति दर्शा दी है। अतः यह कहना कि ‘इनका वास्तविक सामंजस्य कहीं बताया ही नहीं गया है, सरासर गलत है। इस प्रकार प्रसाद ने इसी सर्ग में यह सामंजस्य दिखला दिया है तथा दोनों जगहों पर इनके असामंजस्य और सामंजस्य के कारणों को भी उद्घाटित कर दिया है। ऐसे में आगे के सर्गों में इसके दृश्यमान नहीं होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? विडम्बना तो यह है कि इस सर्ग के बाद ‘कामायनी’ में केवल ‘आनन्द’ नामक एक सर्ग आता है। आगामी अनेक सर्गों की तो यहाँ कोई नियोजना ही नहीं है। मुक्तिबोध ने इन तीनों के सामंजस्य की स्थल-चेतना पर भी सवाल खड़े किए हैं। उनके अनुसार इसका उपयुक्त स्थल वास्तविक जीवन-क्षेत्र है, न कि हिमालय का शिखर! यहाँ फिर मुक्तिबोध ने भूल की है। ‘कामायनी’ में ‘हिमालय’ से प्रसाद का अभिप्रेत भौगोलिक हिमालय नहीं होकर मनुष्य के शरीर के अभ्यन्तर में निर्दिष्ट क्रिया जानेवाला ‘आन्तरिक हिमालय’ है, गगनमंडल है, सहस्र-चक्र है। इसका उल्लेख मैं पहले भी कर चुका हूँ। काश! मुक्तिबोध ने प्रसाद की इस सन्दर्भित पंक्ति पर गौर किया होता—“दिव्य अनाहत पर निनाद में / श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।” यहाँ ‘परम अनाहत निनाद’ आन्तरिक हिमालय पर श्रवण होनेवाला निनाद ही है। यहाँ पहुँचकर, इस स्थिति के सिद्ध होने पर ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सुमेल और सामंजस्य हो पाता है। सच तो यह है कि यही सामंजस्य की जन्मभूमि है और जीवन-जगत् उसकी कर्मभूमि है, जहाँ उसका सहज स्वाभाविक अनुप्रयोग होता है। ‘कामायनी’ में कवि ने दार्शनिक पारिभाषिकों में नए अर्थ भरे हैं। अतः ‘कामायनी’ के सन्देश को ‘अकर्मकता’ का सन्देश मानना भी निराधार और गलत सिद्ध होता है। जैसा मुक्तिबोध ने स्वयं अपनी कविता के विषय में सामान्यीकरण (Generalization) करते हुए कहा है कि कविता में “जीवन-संघर्ष केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है या बिम्ब बनकर या विचार बनकर।” सो उन्हीं के अनुसार कविता से निबन्ध या नाटक जैसी विधा के पूर्वपश्च व्याख्यात्मक निरूपण की अपेक्षा करना अनुचित है। मुक्तिबोध ने यदि अपने इस कथन को ही याद रखा होता तो ऐसा अनर्गल आरोप करने से उन्हें उनका ही काव्य-विवेक रोक देता!

मुक्तिबोध का चौथा आरोप है कि “प्रसाद जी का रहस्यवाद पलायनवाद है। इसमें न तो कबीर की आत्म-प्रस्थापना है, मस्ती है, फक्कड़पन है और न रवीन्द्र का मूर्त मानवादार्श।...वह (मनु) दयनीय अहंवादी अपनी सारस्वत सृष्टि के नष्ट होने से दुःखी नहीं है; अपनी पराजय से दुःखी है और ऐसी अवस्था में श्रद्धा उसे आकर आश्रय देती है और उसकी कृपा से उसे एकाएक आत्मज्ञान प्राप्त होता है और वह हिमालय जाता है और तपस्या करता है। यह शुद्ध पलायनवाद है, अमिश्रिता अब मानव की विजय मानसरोवर पर होगी...हमारे मनु जी ‘मूँड़ मुँड़ाय भये संन्यासी’।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी : कुछ नए विचार’, कामायनी : एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ) मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ के रहस्यवाद को ‘पलायनवाद’ कहा है। पर ‘कामायनी’ में रहस्यवाद है कहाँ? वहाँ तो रहस्य सर्ग-मात्र है। इसमें जो भी किंचित् रहस्यवाद लगता है वह कबीर का भावनात्मक रहस्यवाद नहीं है, क्योंकि इसकी सोद्देश्यता न तो जीव और ब्रह्म का मिलन है, न ही मनु की वैयक्तिक मुक्ति ही। इसकी जगह यहाँ साधनात्मक रहस्यवाद के एकाध पारिभाषिकों में तद्वत् परिवेश के द्वारा नए अभीष्ट अर्थ भरे गए हैं, उसकी नई अर्थ-व्याख्या की गई है। अपनी कामायनी-विषयक पुस्तक में जिस फन्तासी का मुक्तिबोध ने लम्बा रचना-प्रक्रियाई विवेचन किया है उस ‘फन्तासी’ की शैल्पिक अभिव्यंजना को मुक्तिबोध इस सर्ग में नहीं समझ सके हैं। रही बात कबीर के रहस्यवाद में ‘मस्ती’ और ‘फक्कड़पन’ की, तो कबीर के यहाँ दोनों प्रकार के (साधनात्मक और भावनात्मक) रहस्यवाद हैं। पर ‘मस्ती’ और ‘फक्कड़पन’ उनके समाज-सुधार और धर्म-सुधार विषयक पदों में है। अगर उनके रहस्यवाद में कहीं ‘मस्ती’ दिखती है तो वह भावनात्मक रहस्यवाद में ही और प्रसाद की कामायनी में यह भावनात्मक रहस्यवाद कहीं नहीं है। प्रसाद यहाँ ‘कामायनी’ में जिज्ञासा के तत्त्व तो हैं, पर विरह और मिलन का चक्कर नहीं है। कबीर की आत्म-प्रस्थापना ‘आत्मज्ञान’ की है। प्रसाद के यहाँ वही रूपान्तरित ‘प्रत्यभिज्ञा’ है। ऐसे में मुक्तिबोध की उक्त टिप्पणी की निस्सारता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवादी कविताएँ (‘गीतांजलि’ की) भी आत्मा और परमात्मा से या केवल परमात्मा से सम्बन्धित कविताएँ हैं। उनकी मूर्त मानवादार्श वाली कविताएँ इनसे भिन्न है। पर ‘कामायनी’ ऐसे आदर्श मानव के निर्माण का काव्य है, जो मूर्त मानवादार्श को प्रस्तुत कर सके। मुक्तिबोध ने इसी को नहीं समझने के कारण एक ओर ‘कामायनी’ को ‘रहस्यवादी’ काव्य कह दिया है और दूसरी ओर काव्य में निरूपित ‘हिमालय’ के अन्तर्गर्भी अर्थ की अनभिज्ञतावश उसे ‘पलायनवाद’ भी मान लिया है। उनके बहुत-सारे आरोपों के मूल में उनके बोध की यह तथ्यतगत भ्रान्ति ही सक्रिय है। आगे अपने आरोप में मुक्ति-शोध कहते हैं कि श्रद्धा की ‘कृपा’ से मनु को एकाएक ‘आत्मज्ञान’ प्राप्त होता है और वह ‘हिमालय’ जाकर तपस्या करता है। पर सच्चाई यह है कि मनु को ‘एकाएक आत्मज्ञान’ नहीं होता, अपितु श्रद्धा पहले उसे

‘स्पर्श-दीक्षा’ देकर उसमें ‘शक्तिपात’ कर मानसिक दृष्टि से उसके ‘अन्तःकरण’ को अनुकूलित करती है और उसकी कुण्डलिनी को जाग्रत कर देती है। यहाँ से उसकी उन्नयन-यात्रा आरम्भ होती है और वह आन्तरिक ‘हिमालय’ तक पहुँचता है। प्रसाद ने ‘तपोवन’ जैसे प्रतीक से भी इसी की समतुल्यता को संकेतित किया है। यहीं उसे मानसिक हिमालय पर, गगन-मंडल पर सहस्रार चक्र पहुँच जाने पर प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान (Self-recognition) प्राप्त होता है। ममत्व चला जाता है, समत्व आ जाता है। समरसता मिल जाती है। मुक्तिबोध का आरोप है कि मनु हिमालय पर आकर तपस्या करते हैं, जो उनका शुद्ध और अमिश्रित ‘पलायनवाद’ (Escapism) है। पर कामायनीकार प्रसाद ने मनु को केवल ध्यानमग्न दिखलाया है। यह उनके आन्तरिक आकाश की उपलब्धिगत तल्लीनता को दिखाता है, जिसका सम्बन्ध योग से है। जब यहाँ हिमालय में जाकर वैयक्तिक मुक्ति के लिए तपस्यारत होने की स्थिति ही नहीं है, हर कहीं समत्व, समरसता और सबकी सेवा को अपनी ही सुख-संसृति मानने की स्थिति है, तब भला इसमें ‘पलायनवाद’ कहाँ से आ गया? मुक्तिबोध यहीं नहीं रुकते। वे अपने आरोपों में व्यंग्य-बाण साधने से भी नहीं चूकते—“अब मानव की विजय मानसरोवर पर होगी...हमारे मनु जी ‘मूँड़, मुँड़ाय भये संन्यासी’।” द्रष्टव्य है कि ‘कामायनी’ के ‘आनन्द सर्ग’ में एकाधिक बार ‘मानस’ शब्द के प्रयोग हुए हैं। एक-दो द्रष्टव्य हैं—“है यहाँ महाहृद निर्मल / जो मन की प्यास बुझाता / मानस उसको कहते हैं सुख पाता जो है जाता।” फिर दूसरी बार—“यात्री-दल ने रुक देखा / मानस का दृश्य निराला; / खग-मृग को अति सुखदायक। छोटा-सा जगत उजाला। यहा, ‘मानस’ भी अपना प्रतीकार्थ खोलता है। यह ‘अन्तःकरण’ को प्रतीकित करता है। यह उनके लिए अत्यन्त सुखदायी है, जो चंचल ‘मृग’ से ‘खग’ (ख+ग=आकाश में गमन करने वाला) होकर, आन्तरिक आकाश की यात्रा करनेवाला है। अतः ‘मानसरोवर’ भी अपने अभिधेयार्थ तक सीमित नहीं है। इससे ‘रजोगुण’ से ‘सतोगुण’ का वह परिवर्तन सम्भव है, जहाँ मानव की विजय का तो प्रश्न नहीं उठता, पर मानवता अवश्य विजयिनी हो उठती है। पूरी ‘कामायनी’ में न कहीं मुक्तिबोध-कथित ‘पलायन’ है और न कहीं ‘संन्यास’! ‘आत्मज्ञान’ या ‘प्रत्यभिज्ञान’ प्राप्त करनेवाला, अहन्ता और ममता मिटाकर समता-बोध और ‘समरसता’ प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संन्यासी नहीं होता—“हम अन्य न और कुटुम्बी / हम केवल एक हमी हैं” तथा “जीवन-वसुधा समतल है / समरस है जो कि जहाँ है” और मानव कह रे ‘यह मैं हूँ’ / यह विश्व नीड़ बन जाता—कहनेवाले तथा अभेद दृष्टि प्राप्त करनेवाले मनु ‘संन्यासी’ नहीं हैं, बल्कि लोक-उन्नायक, लोक-सेवक और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की एकान्वित के सामंजस्यकर्ता हैं। अतः उन्हें जगत-विमुख ‘संन्यासी’ कहना अपनी पूर्वग्रस्त दृष्टि से ‘कामायनी’ के दर्शन का उपहास करने का निरर्थक प्रयास है। अपने पाँचवें आरोप में मुक्तिबोध पुनः प्रसाद का उपहास उड़ाते हैं—“हम इस सामरस्यवादी दर्शन का व्यावहारिक रूप क्यों

न देखें? हिमालय में बैठे श्रद्धा-समन्वित मनु कहते हैं—“सबकी सेवा न परायी / वह अपनी सुख-संस्मृति है; / अपना ही अणु-अणु, कण-कण / द्यता ही तो विस्मृति है। / मैं की मेरी चेतनता / सबको ही स्पर्श किए-सी; / सब भिन्न परिस्थितियों की, / है मादक घूँट पिए-सी।” कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय में बैठकर श्रद्धा-मनु सबकी सेवा कर रहे हैं। अगर ‘मैं’ की चेतनता सर्वाश्लेषी होकर अनगिनत भिन्न परिस्थितियों की मादक घूँट पिए है, तो दुनिया का कल्याण हो चुका! एक ही जगह स्टालिन और हिटलर का मजा आ गया!” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’ : एक पुनर्विचार’-7, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यहाँ मुक्तिबोध ने मनु के अनुभूत ज्ञान-कथन को भ्रान्त रूप में उनके द्वारा सम्पादित कर्म-यज्ञ समझकर हिमालय पर सेवा करने का आरोप किया है। पर कामायनीकार का अभिप्रेत यहाँ यह दिखाना है कि जो मनु कभी अपनी रजोगुणी प्रवृत्ति से परिचालित होकर “तुच्छ नहीं हैं अपना सुख भी / श्रद्धे! वह भी कुछ है; / दो दिन के इस जीवन का तो / वही चरम सब कुछ है” कहता था, और जिसे सतोगुणी श्रद्धा यह कहती थी कि “सुख को सीमित कर अपने में / केवल दुख छोड़ोगे; / इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे”, वही मनु आज प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान प्राप्त कर यह कहता है कि ‘सबकी सेवा न पराई’, जो उसकी परिवर्तित सतोगुणी मानसिकता की द्योतिका है। पर प्रसाद की इसी काव्य-प्रोक्ति की अन्तिम पंक्ति है—‘द्यता ही तो विस्मृति है’, जिस ओर मुक्तिबोध का ध्यान नहीं जा सकता है। फलतः इसकी तत्काल अगली काव्य-प्रोक्ति की उनकी समझ उद्भ्रान्त हो गई है और ‘मैं की मेरी चेतनता’ को उन्होंने ‘समरसता’ की चेतना से जोड़ दिया है, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सच्चाई यह है कि यह विचार्य काव्य-प्रोक्ति—‘मैं की मेरी चेतनता’—को ‘द्यता ही तो विस्मृति है’ की व्याख्या के रूप में निरूपित किया गया है। ‘मैं की यह चेतनता—‘अहन्ता’ और ‘ममता’ की स्वार्थपरक रजोगुणी चेतनता है, जिसने सबको ही उनकी मानसिकता में स्पर्श कर रखा है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की यह सारी अहन्ता और ममता जैसे मादकता की घूँट पिए हुई है। इनसे अगली पंक्तियों में भी इनके शयन, जागरण और स्वप्न की स्थिति निरूपित हुई है। पर अब यही मानव चेतना का साक्षी बनता है, अहन्ता और ममता के विकारों से मुक्त हो जाता है, प्रसन्न होता है और ‘अन्तःकरण’ (मानस) के मधुर मिलन की गहराइयों तक पहुँचता है, तब वह सारे भेद-भाव से परे हो जाता है, ऊपर उठ पड़ता है। समत्व बुद्धि प्राप्त कर लेता है। सबमें अपने ‘मैं’ का ही ‘अस्मि भाव’ देखता है और पूरे विश्व को मानवता का नीड़ बना देता है। पर मुक्तिबोध का संकट पाठ की सही पहचान-परख नहीं कर पाने का, उसके ‘कथ्य’ और ‘कथन’ को नहीं समझ पाने का संकट है। फलतः वे ‘द्यता’ के कथन को, ‘अहन्ता’ और ‘ममता’ की मादक घूँट पिए रहने के कथन को भ्रान्त रूप में ‘समरसता’ का व्याख्यात्मक कथन मान लेते हैं और प्रसाद पर आरोप करते हुए बहुत ही निम्न स्तर पर जाकर बड़े ही कटूक्तिपूर्ण, उपहासात्मक

ढंग से प्रसाद में और मनु में (?) ‘स्टालिन’ और ‘हिटलर’ जैसे शासकों को एकत्र देखने लगते हैं।

मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा के ऐसे कवि-लेखक हैं, जिनका यह विश्वास है कि दुनिया की सारी समस्याओं का समाधान मार्क्सवाद के पास है और यह भी कि विश्व में मानवीय सामाजिक समानता यही दर्शन ला सकता है और इस तरह का यही अकेला दर्शन है। ‘कामायनी’ की उनकी समझ हर दृष्टि से कच्ची है। न तो वे भारतीय संस्कृति और परम्परा को प्राचीन भारतीय वाङ्मय और दर्शन के आलोक में समझने में सफल हुए हैं और न ‘कामायनी’ जैसी काव्यकृति के प्रतिपाद्य और अभिव्यंजन को तथा उसकी पारस्परिकता को उसकी अर्थगर्भिता के आलोक में, उसकी तलान्वेषिता में गृहीत और उद्घाटित कर पाए हैं। ‘कामायनी’ के भावन और बोधन के क्रम में उन्हें लगता है कि यदि मार्क्सवाद का निर्णायक प्रभाव प्रसाद के युग में हुआ होता, तो सम्भवतः वे उसे अपनी इस काव्यकृति में ग्रहण कर चुके होते। इस दृष्टि से की गई उनकी यह टिप्पणी द्रष्टव्य है कि “भारतीय समाज के अन्दर मार्क्सवादी विचारधारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण तथा तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरन्तन मान बैठे।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’-3, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) उनके इस मन्तव्य के उत्तरार्ध का यदि हम विश्लेषण करें, तो दो तथ्य स्पष्ट होते हैं पहला यह कि ‘कामायनी’ की बुनियादी समस्या वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता से उत्पन्न है। दूसरे, प्रसाद ऐसे भयावह विश्व की ऐसी भयावह समस्या को चिरन्तन और स्थाई मान बैठे हैं। यदि ‘कामायनी’ को उसके साकल्य में देखें और उसकी समस्याओं का तालिकांकन करें, तो उसकी समस्याएँ निम्नलिखित रूप में सामने आती हैं—

1. प्रलय के पश्चात् चिन्ता, निराशा और विषाद-जन्य ‘अकर्मकता’ बनाम कर्ममयता की समस्या।
2. पुरुष और नारी के बीच अभियोजन की चिरन्तन समस्या।
3. स्वार्थपूर्ण आत्मकेन्द्रण बनाम समत्वपूर्ण लोकार्पण की समस्या।
4. नारी को भोग्या माननेवाले कामातुर, अधीर पुरुष के द्वारा अधिकृत सहकर्मिणी पर बलात्कार करने की समस्या।
5. शासक बनाम शासित के बीच शासक के द्वारा नियमोल्लंघन की समस्या।
6. शासक के नियाधीन रहने बनाम नियममुक्त रहने की समस्या।
7. अधिकारी बनाम अधिकृत के शोषण की समस्या।
8. शासक बनाम शासित प्रजा के बीच आश्रयदाता बनाम संघर्षकर्ता की समस्या।

9. प्रिपुसत्ताक (Patriarchy) परिवार और समाज की समस्या।

10. तमोगुण-रजोगुण बनाम सतोगुण की समस्या।

अतः 'कामायनी' की समस्या कहीं भी वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता की समस्या नहीं है। मनु और उसकी प्रजा के बीच शासक और शासित के बीच जो संघर्ष होता है, उसका मूल कारण मनु के द्वारा इड़ा का बलात्कार किया जाना है—“सिंह द्वार अरराया / जमता भीतर आई; / 'मेरी रानी' उसने जो चीत्कार मचाई” तथा “और इड़ा पर यह जो अत्याचार किया है / इसीलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है? / आज वन्दिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है? / और यायावर, अब तेरा निस्तार कहाँ है?” यदि मनु द्वारा इड़ा पर बलात्कार कर उसका शील-हरण नहीं किया जाता, तो संघर्ष की यह घटना नहीं घटती, क्योंकि प्रजा तो क्षुब्ध प्रकृति-प्रकोप से घबड़ाकर मनु के पास आश्रय लेने आई थी। यही मनु की प्रजा को यह स्मरण आता है कि मनु ने प्रजा को योग-क्षेम का वहन करने की अपेक्षा उसे संचय करने का लोभ सिखाया है, उसे आपसी होड़ाहोड़ी करने के लिए विचार-संकट में डाला है। उसने यन्त्रों का निर्माण और व्यवहार कर मनुष्य को प्रकृत शक्ति से विरहित कर दिया है। उसने प्रजा-पालन की जगह, राज्य की सुख-शान्ति की जगह शान्ति का शोषण किया है और उनका जीवन जर्जर कर डाला है। अतः मुक्तिबोध का उक्त आरोप गलत है। वास्तविकता यह है कि प्रसाद ने मनुष्य के अहंकार, स्वार्थी, मोह, लोभ, ममत्व, अधिकार-मद, कामोद्रेग, हिंस्र प्रवृत्ति आदि रजोगुणी गुण को चिरन्तन माना है, जिसका विस्तार वर्ग-विहीन और कालविहीन मानव-समाज तक है। इसलिए तो सनातन है, इस समस्या को उन्होंने चिरन्तन मान लिया है। इन सारी समस्याओं का आविर्भावक मनुष्य का 'अन्तःकरण' है। इसीलिए इसका निदान भी उन्होंने मनुष्य के अभ्यन्तर के परिवर्तन से किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि यदि मार्क्सवाद उनकी युगीनता में वर्ग-वैषम्य और मानवीय समानता के लिए समाधान के रूप में भारत में प्रस्तावित और प्रचलित हो चुका होता, तो भी प्रसाद उस समाधान को स्वीकार नहीं करते। अपनी उक्त टिप्पणी में मुक्तिबोध ने जिस 'तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाग्रस्तता का उल्लेख किया है, वह प्रसाद जी के लिए कोई नई बात नहीं थी। 'कामायनी' के आरम्भ में 'चिन्ता सर्ग' में ही वे ऐसी चरम विकासात्मकता और आन्तरिक ऋणात्मकता की परिणति तथा उसका परिणाम निरूपित कर चुके थे।

'कामायनी' की समस्या को मनु के चरित्र से जोड़ते हुए मुक्तिबोध ने इसे नितान्त आधुनिक समस्या माना है और लिखा है कि “वह सनातन से चली आ रही किसी मानवता की प्रधान समस्या नहीं। रामायण-काल में या तुलसीकृत रामायण-काल में 'कामायनी' की समस्या नहीं थी, न वह रीति-काल में थी, न वह अति प्राचीन वैदिक समाज में थी।” (द्रष्टव्य : 'कामायनी : कुछ नए विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) कहना होगा कि मुक्तिबोध का यह अभिमत भी उनके मतिभ्रम का ही प्रमाण

है। इससे पुनः यह पता चलता है कि वे 'कामायनी' की मूलभूत समस्या को समझ ही नहीं पाए हैं। 'कामायनी' की मूलभूत समस्या है मनुष्य की सभ्यता के उत्तरोत्तर हो रहे बाह्य विकास के अनुपात में ही उसकी प्रकृति में रजोगुणी प्रवृत्ति का अन्धाधुन्ध विकास! सारी समस्याओं की जड़ यह रजोगुणी प्रवृत्ति ही है। यही मनुष्य के 'अन्तःकरण' को लोक-विमुख, स्वार्थी, परिग्रही, अहंकारी, विद्वेषी, हिंस्र, कामोद्रेगी, क्रोधी, दुराचारी, अपराधी आदि बनाती है। कहना न होगा कि व्यक्ति मनुष्य और मानव-समाज की यह समस्या पुरानत काल से नहीं, अपितु प्राक्तन काल (Pirmordial age) से ही चली आ रही है। यह तब भी थी और आज भी है। इनमें केवल आनुपातिक का अन्तर है। पहले यह केवल फ्रायड-निरूपित इडम (ID) के इर्द-गिर्द थी। अब यह 'अहम' (Ego) में भी है, अर्थात् आवरण ओढ़कर सामने आई है। आज पूरे मानव-समाज को इसने अपने वशीभूत कर रखा है। यह समस्या रामायण-काल में भी थी और महाभारत-काल में भी। रावण घोर रजोगुणी प्रकृति का है। वह सुपठित है, विद्वान है, तपस्वी है, और है राजा। पर यह घोर अहंकारी, मदोन्मत्त लोक-त्रासक, लोक को रूलानेवाला, घोर परिग्रही, अपने राज्य-अधिकार का विस्तार करनेवाला, मायावी, युयुत्सु और भयानक रूप में हिंस्र है। सतोगुण का उसके आचरण में लेश तक नहीं है। कुम्भकर्ण, मेघनाद, बालि और सुग्रीव ऐसे ही हैं। द्वापर में, महाभारत-युग में कंस और दुर्योधन ऐसे ही घोर रजोगुणी व्यक्तित्व हैं। वे अहंकार, राज्यमद, अधिकार-मद से भरे अपने बन्धु-बान्धव के त्रासक, प्रतिशोधी और उनके प्रति युयुत्सु हैं। वे धर्म, मर्यादा और नैतिकता का तिरस्कार करनेवाले छल-छद्म से भरे कुटिल और अनाचारी रजोगुणी व्यक्तित्व हैं। इस तरह के अनेक उदाहरण हमें इन दोनों युगों में प्राप्त होते हैं। भक्तिकाल और रीतिकाल इन दोनों में आक्रान्ता हैं, युद्ध है, मानव-समाज का कल्लेआम है। गाजर-मूली की तरह का नरसंहार है। धार्मिक स्थलों का, मन्दिरों का ध्वंसन है, ग्रन्थालयों का अग्निदाह है, बलात्कार है, अत्याचार है। ये सारे रजोगुणी कर्म हैं। वैदिक समाज में लोग सतोगुणी अधिक थे। अतः यह समस्या कम थी। पर उस समाज में भी यह समस्या थी। 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' के अनुसार गोधन और मुद्रा-प्राप्ति के लोभ में 'शनुःशेष' को उसके पिता ने नरमेध के लिए न केवल रोहित के हाथों बेच दिया था, बल्कि और स्वर्णमुद्राएँ लेकर वह बलिवेदी पर उसकी बलि देने के लिए भी तैयार हो गया था। इसका सूक्तरूप उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इस प्रकार मुक्तिबोध का यह आरोप भी गलत सिद्ध होता है।

मुक्तिबोध का एक आरोप यह भी है कि सारी 'कामायनी' में नवीन सभ्यता के उत्कर्ष सुखोल्लास और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्री-वृद्धि विज्ञानोन्नति और सत्ता—ये तीन बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं, किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोगग्रस्त रहा। प्रसाद जी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है। ... इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी

की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’-3, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यहाँ यह स्मरणीय और द्रष्टव्य है कि ‘कामायनी’ की रचना के मूल में ही जिस सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास और सफलताओं का आकस्मिक अवसान निरूपित हुआ है, वह आज की नवीन सभ्यता के विकास से कुछ भिन्न नहीं है। प्रसाद ने चिन्ता-सर्ग में मनु के अतीत-स्मरण के व्याज से मानो इसी सुख-समृद्धि का निरूपण किया है—“सुख केवल सुख का वह संग्रह / केन्द्रीभूत हुआ इतना; / छाया-पथ में नव तुषार का / सघन मिलन होता जितना / सब-कुछ थे स्वायत्त, विश्व के बल, वैभव आनन्द अपार; / उद्वेलित लहरों-सा होता उस / समृद्धि का सुख-संचार। / कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती/ अरुण किरण-सी चारों ओर; / सप्त सिन्धु के तरल कणों में द्रुम-दल में आनन्द-विभोर। / शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति थी / पदतल में विनम्र विश्रान्त; / कँपती धरणी, उन चरणों से / होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।” पर इस विकासगत समृद्धि और चरमोपलब्धि का परिणाम क्या हुआ? प्रलय हुआ आया और सब-कुछ मिटा गया—“गया, सभी कुछ गया...। यहीं से ‘कामायनी’ की कथा का आरम्भ होता है। फिर नया नगर बसता है, नई सभ्यता उभरती है। पर विकास की दशा बाहरी ही रहती है, आन्तरिक नहीं हो पाती है। उसी आन्तरिक विकास के सन्तुलनात्मक अभाव में प्रलय घटित हुआ था। अब पुनः उससे बचाव के लिए और मनुष्यता के सम्यक् आत्म्यन्तर विकास के लिए प्रसाद मनु को ‘रजोगुण’ से ‘सतोगुण’ की यात्रा कराते हैं और मनु इसे श्रद्धा के मार्ग-दर्शन में उपलब्ध करता है। यही कारण है कि प्रसाद ने अलग से इसका विस्तृत उल्लेख नहीं कर संक्षेप में सारे संकेत दे दिए हैं। मुक्तिबोध ‘कामायनी’ में अपने इच्छित सर्ग की नियोजना नहीं होने और प्रलय का विस्तृत विम्बन-विवरण होने के कारण ‘कामायनी’ के विषय में यहाँ तक कहने से नहीं चूकते कि “अपने जन्म से ही यह बालक रोगग्रस्त रहा।” पर वास्तविकता यह है कि इस काव्यग्रन्थ का आरम्भ रोगग्रस्त नहीं है, बल्कि इसमें निरूपित मनुष्य और उसकी मनुष्यता रोगग्रस्त है। इस समस्या और इसके समाधान की दृष्टि से ही ‘कामायनी’ में कथा का विकास होता है। प्रसाद के द्वारा बार-बार यह स्मरण कराने पर कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है मुक्तिबोध मानो अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। मुक्तिबोध यथार्थ की इस भीषणता में कमी करने के प्रसादीय दृष्टिकोण को शासक में ‘अच्छाई’ और ‘उदारता’ का दृष्टिकोण समझते हैं। वे मनुष्य के ‘अन्तःकरण’ के सतोगुणी रूपान्तरण तक नहीं जा पाते और प्रसाद के समाधान को केवल ‘शासक’ तक सीमित कर देते हैं; जबकि यह समाधान पूरी मनुष्यता के लिए है। सभी मनुष्यों के ‘अन्तःकरण’ को ‘रजोगुणी’—मात्र तक सीमित न रहकर उसे सतोगुण की ओर उन्मुख करने का है। पूरी ‘कामायनी’ इसके लिए प्रयत्नशील और प्रभावशील है। श्रद्धा को तो यह पहले से ही उपलब्ध है, अन्त में जाकर मनु इसे उपलब्ध कराते हैं।

फिर इड़ा और मानव भी। यहाँ भी मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचारधारा को केन्द्र में रखकर ही ‘कामायनी’ पर टिप्पणी की है।

‘कामायनी’ के चरित्रों पर आरोप करते समय भी मुक्तिबोध के भावन-विवेक पर मार्क्सवाद और आधुनिकता का चश्मा चढ़ा रहता है। फलतः पाठ (Text) के आलोक में उभर रहे पात्रों की शीलगत विशेषताओं पर उनकी दृष्टि नहीं जा पाती है। श्रद्धा के विषय में आरोप करते हुए वे लिखते हैं कि “वह (श्रद्धा) किसी महान निर्माण के लिए आवश्यक प्रेरणा नहीं बन सकती, न सहकार्य कर सकती है। वह पहले जिस महान सन्देश को लेकर उठी थी, उसकी प्रेरणा भी बाद में उसके पास न रही। वह मात्र एक गृहिणी बन गई।” (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’ : कुछ नए विचार’, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) पर सच्चाई यह है कि श्रद्धा मनु को जो महान सन्देश ‘कर्म’ सर्ग में देती है—“अपने में सब कुछ भर कैसे / व्यक्ति विकास करेगा। यह एकान्त स्वार्थ भीषण है। अपना नाश करेगा। / औरों को हँसते देखो मनु / हँसो और सुख पाओ; / अपने सुख को विस्तृत कर लो/जग को सुखी बनाओ अब वह मनु के व्यक्तित्व में उसी सन्देश को साकारिता देने हेतु उसकी मार्गदर्शिका बनती है और उसे चरितार्थ कराती है। इस तरह ‘कामायनी’ में वह इस महान सन्देश की प्रेरणा-भर नहीं बनती, बल्कि उसकी चरितार्थकर्म भी बनती है और मनु को ‘रजोगुण’ की सीमा से निकालकर उसे ‘सतोगुणी’ बना देती है। इसे ‘महान निर्माण’ के लिए आवश्यक ‘प्रेरणा’ और ‘सम्बल’ न कहा जाए तो भला और क्या कहा जाए? फिर ‘कामायनी’ के उत्तरार्ध में मनु के साथ रहकर वह सतकार्य नहीं करती तो और क्या करती है? मुक्तिबोध ने ‘श्रद्धा’ को ‘गृहिणी’ तक सीमित कर दिया है, जबकि श्रद्धा इस सीमा से ऊपर उठती है। श्रद्धा और मनु का गन्धर्व विवाह जैसा है। ‘विवाह’ के प्रयोजन और संकल्प को अथर्ववेद में निर्दिष्ट करते हुए बताया गया है—“*तावेव विवाहवहै। सहरेतो दधावहै। पुत्रान् प्रजनयावहै बहून्।*” विवाह के प्रयोजन ‘वाह’ (मैथुन)—कर्म सम्पन्न करना है, साथ-साथ रेत को धारण करना और अनेक सन्तानों को जन्म देना है। विवाह के साथ ही नारी गृहिणी बनती है। पत्नी और गृहिणी के रूप में वह सन्तान की देख-रेख तथा घरेलू कामों को सम्पन्न करती है। पर श्रद्धा एक ऐसी नारी है, जो केवल वैवाहिक स्तर तक सीमित नहीं है। ‘विवाह’ में मन और तन का मिलन होता है। पर इससे एक स्तर ऊपर ‘उद्वाह’ होता है, जिसमें आत्मा और आत्मा का मिलन होता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है, जो ‘विवाह’ से ऊपर ‘उद्वाह’ की स्थिति तक पहुँचती है। मनु से इस आत्मिक मिलन के स्तर पर ही वह ‘लोकोत्सर्ग’, लोक-कल्याण’, का सन्देश देती है। इसकी प्रेरिका और उद्बोधिका होने के साथ-साथ वह मनु को इसकी प्राप्ति कराने के लिए सहकार्य भी करती है। पर मुक्तिबोध को यह सब ज्ञात नहीं है, तभी तो अपने इच्छित दर्शन के क्षेत्र में श्रद्धा से तद्रूप ‘प्रेरणा’ और ‘सहकार्य’ की पूर्वग्रहपूर्ण अपेक्षा रखते हैं। वे ‘कामायनी’ के पाठ की भावकीय यात्रा

काव्यपाठ के आधार पर उससे गुजरते हुए पूरी नहीं करते, अपितु जो 'कामायनी' का प्रतिपाद्य नहीं है और उसकी कथावस्तु के लिए बेमेल और अवांछित है, अपनी वैसी 'अपेक्षा और माँग' के आधार पर 'कामायनी' की कटु आलोचना तक कर बैठते हैं, जो सर्वथा अनुचित और अविहित है। यहाँ मुक्तिबोध 'कामायनी' पर अपने ही उस मत के विपरीत आरोप लगाते दिखते हैं, जो स्वयं उनके आलोचक को ही मान्य नहीं है—“असल में आपको आलोचना के पूर्वग्रह और अभिरुचि-दोष की व्याख्या करनी होगी, उसके कारणों को प्रस्तुत करना होगा। मतलब यह कि जिस हम पूर्वग्रह या अभिरुचि-दोष कहते हैं, उसके पीछे बहुत बार प्रकृतिगत वैषम्य, जड़ता अथवा कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ—जो एक प्रकार के जीवन-तथ्यों को समझ सकती है, किन्तु दूसरे प्रकार के जीवन-तथ्यों का मर्म समझने से इनकार कर देती हैं—आलोचकों में रहती हैं।” (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-19) कहना होगा कि यह तथ्य पूरी तरह 'कामायनी : एक पुनर्विचार' की आलोचना में मुक्तिबोध पर घटित होता है, क्योंकि इस सन्दर्भ में वे स्वयं अपनी मान्यता से अलग दूसरे प्रकार के जीवन-तथ्यों का मर्म समझने से इनकार कर देते हैं।

मुक्तिबोध का अगला आरोप इड़ा को लेकर है। उनके अनुसार 'इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजयवाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है, किन्तु पूँजीवादी नियम-विधान के प्रतिकूल जानेवाले के लिए उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती है कि वर्ग-भेद के आधार पर उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती है कि वर्गभेद के आधार पर उसके सुविभाजन विषम क्यों हो गए हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नए (नियम) क्यों बन जाते हैं। वह अपनी अवनति अपना हास स्वीकार करती है और समरसता का, अमूर्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।” (द्रष्टव्य: 'कामायनी : कुछ नए विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) मुक्तिबोध को इड़ा के 'योग्यतम की विजय' वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानने से शिकायत है। स्मरणीय है कि यह मूलतः डार्विन का सिद्धान्त है, योग्यतमावशेष (Survival of the fittest) का सिद्धान्त! पर यह नर और नरेतर प्रकृति के पर्यवेक्षण पर आधारित है। संसार में यह आरम्भ से ही सर्वत्र दृष्टिगत होता है और यह क्रम अब तक जारी है। मूलतः यह नियम 'यथार्थ' पर आधारित है। हाँ, इसको आदर्श (Ideal) रूप में काम्य नहीं माना जा सकता। पर जीवन में किसी को अभिप्रेरित, उत्साहित कर उसे स्पर्धा में जयी बनाने के लिए यह नियम कारगर सिद्ध होता है और इड़ा एक बड़ी सोद्देश्यता की दृष्टि से मनु को यह सन्देश देती है— “स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें / वे रह जावें; / संसृति का कल्याण करें / शुभ मार्ग बताएँ।” 'कामायनी' में नियम-विधान यह बताता है कि नियम का नियन्ता भी नियम के अधीन है। वह नियम से परे नहीं होता। वह उसकी अनुपालना से मुक्त नहीं हो सकता। पर मनु इस पर प्रश्नचिह्न लगाता

है—“मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल से प्रयत्न कर, / इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर। / किन्तु स्वयं भी क्या वह सब-कुछ मान चलूँ मैं, / तनिक न मैं स्वच्छन्द, स्वर्ण-सा सदा गलूँ मैं!” और फिर उसकी यह मान्यता—“विश्व बँधा है एक नियम से, यह पुकार-सी / फैल गई है इनके मन में दृढ़ प्रचार-सी। / नियम इन्होंने परखा, फिर सुख-साधन जाना, / वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।” पर इड़ा नियामक के अधीन नहीं रहने को स्वीकार नहीं कर पाती और कहती है—“किन्तु नियामक नियम न माने / तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ-सा निश्चय जाने।” इड़ा के मन में जिस नियम के प्रतिकूल चलनेवाले के लिए, नियन्ता द्वारा नियम को नहीं मानने के लिए सहानुभूति नहीं है, वह कोई पूँजीवादी नियम नहीं है। मनु अपनी कामासक्तता और कामान्धता में नियन्ता होकर अपना ही बनाया नियम तोड़ते हैं। मनु की इसी अतिचारिता से नभ में भयानक हलचल के बीच रुद्र हुंकार होता है। आश्रय पाने आई मनु की आत्मजा प्रजा इड़ा पर मनु का बलात्कार देख मनु के लिए अभिशाप बन जाती है। मनु के द्वार प्रजा की रक्षा के दायित्व का निर्वाह नहीं हो पाता है। मनु के इस हेय कामाचार से राजा और प्रजा के वर्गों के बीच कभी न भरनेवाली खाई फैल जाती है। ऐसी स्थिति में जब तक अविरुद्ध रहनेवाला प्रजावर्ग मनु के विरुद्ध हो जाता है। मनु प्रहार से युद्ध आरम्भ करते हैं। प्रजा नियम की व्यवस्था को पद-दलित कर देती है—“बढ़ा विपक्ष-समूह मौन पद-दलित व्यवस्था।” “रक्तोनाद मनु का न हाथ अब भी रुकता था; / प्रजा पक्ष का भी न किन्तु साहस झुकता था।” इस पूरे प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु ने राजा और प्रजा सभी नागरिकों के लिए जो नियम-व्यवस्था बनाई थी, जिसका वह स्वयं अतिक्रमण कर देता है, वह वही नियम है। वस्तुतः यह राजतन्त्र में स्त्री के शील और उसकी यौन-सुरक्षा का लोकतान्त्रिक नियम है, न कि मार्क्सवादी दर्शन में भर्त्सनात्मक रूप में निर्दिष्ट पूँजीवाद और पूँजीवादियों के हित का कोई नियम। मनु-निरूपित इस नियम में न तो राजा को किसी प्रकार की छूट है और न किसी प्रकार की अपवाद-स्थिति। तभी मनु इड़ा से कहते हैं—“बाधा नियमों की न पास में अब आने दो। यानी मर्यादा-विरुद्ध काम को रोकने के लिए नियम की बाधा वर्तमान है। यदि यह नियम-बाधा नहीं होती, यह नियम में छूट या अपवाद के अन्तर्गत होता या यह वहाँ उचित घोषित किया गया होता, तो इसका विरोध न इड़ा कर पाती, न आकाशीय रुद्र, न महाशक्ति और न ही प्रजावर्ग! मुक्तिबोध कहते हैं कि इड़ा यह समझ नहीं पाती है कि उसके वर्ग-भेद आधारित सुविभाजन विषम क्यों हो गए हैं! पर इस विषमता का कारण अर्थ-केन्द्रित वर्ग-विभाजन नहीं है, अपितु राजतन्त्र में लोकतन्त्रात्मक पद्धति पर स्त्री की शील-सुरक्षा के विषय में उसके बनाए गए चालू नियम का स्वयं नियन्ता के द्वारा तोड़ा जाना है। इस तरह यहाँ विषमता के उस सही कारण को मुक्तिबोध देख नहीं पाते हैं; जिसकी प्रकृति और परिणाम-दोनों से इड़ा अवगत है। शासक और शक्ति के बीच ही यह विषमता आज के भारतीय

लोकतन्त्र में भी परिलक्षित होती है, जहाँ सविधान और नियमों को शासक वर्ग तोड़ता दिखता है। जहाँ तक वर्ग-विभाजन का प्रश्न है, यह अर्थ-केन्द्रित नहीं होकर श्रम-केन्द्रित है और कर्म के आधार पर ही वर्गों का विभाजन हुआ है। यह वर्ग-विभाजन यद्यपि मनु ने ही किया है—“मैंने ही श्रमभाग किया, फिर वर्ग बनाया!” पर यह पूँजीवादी वर्ग-विभाजन नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रजा के लिए भी, अपने वर्ग बनाकर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ की स्थिति है। मुक्तिबोध का यह भी आरोप है कि इड़ा को यह बात ज्ञात नहीं है कि नियम क्यों टूटते हैं और नए नियम क्यों बनते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इड़ा और मनु ने मिलकर जो राज्य बसाया, सभ्यता विकसित की और नियमों की जो व्यवस्था की, उसे मनु ने ही तोड़ा और इड़ा जैसी प्रमुख प्रजा पर अपनी कामान्धता में अतिचार-बलात्कार तक किया। ‘कामायनी’ में प्रजा को आत्मजा कहा गया है। उस रूप में इड़ा भी आत्मजा ही हुई। इड़ा मनु से अपने सम्बन्ध को स्पष्ट करती कहती भी है—“प्रजा तुम्हारी, तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ।” पर मनु इसके ठीक विपरीत उसे उत्तर देता है—“प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी, मुझे न अब भ्रम में डालो।” इस तरह यहाँ सबसे पहले अपने राज-धर्म और दायित्व का निर्वाह नहीं करने के कारण और राज-मर्यादा का पालन नहीं कर पाने के कारण नियम टूटता है। तभी प्रकृति-प्रकोप से भीत शरण माँगने आई प्रजा इसकी प्रतिक्रिया में इड़ा पर हुए अतिचार को देख विरोध-प्रदर्शन करती है। इसी में नए नियम के निर्माण की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। प्रसाद लिखते हैं—“नियमन एक झुकाव दवा-सा टूटे या ऊपर उठ जाए।” इड़ा अपने प्रयत्न में इसलिए हार मान लेती है, क्योंकि मनु को बाहर से बदलने के उसके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। वह मनु की व्यक्ति-केन्द्रित, स्वार्थी और स्वेच्छाचारी मानसिकता को बदल नहीं पाती है। इड़ा ‘संघर्ष’ सर्ग में मनु से कहती है—“यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि-साधना, / अपना जिसमें श्रेय, वहीं सुख की आराधना। / लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में / प्राण-सदृश तुम रमो राष्ट्र की इस काया में।” पर मनु विश्व-कल्याण की इन बातों को नहीं मानता और इड़ा से पूछता है—“मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या? / कुछ पाने का यह प्रयास है पाप, सहूँ क्या?” / इड़े मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ / तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ। तुम्हें देखकर सब बन्धन ही टूट रहे अब / शासन का अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।” इड़ा इसके पूर्व मनु को यह कह चुकी होती है कि क्षितिज-पटी (व्यक्ति हित और लोक हित के बीच करणीय, अकरणीय के द्वन्द्व से मुक्त होकर) को उठाकर विश्व-कुहर में लोक-कल्याण का घननाद करने चलो। उसकी संगति में ताल-ताल पर चलो, जिससे इसकी लोक-लय छूट न जाए। तुम अपने स्वार्थ का विवादी स्वर इसमें मत छोड़ो। पर मनु इस आग्रह को ठुकरा देता है—“तुम कहती हो, विश्व एक लय है, मैं उसमें / लीन हो चलूँ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमें!” इस प्रकार वह अपनी मानसिकता को बदलने विषयक सारा आग्रह ठुकरा देता

है। ऐसी स्थिति में इड़ा अपने द्वारा अपनाए गए सभी बाहरी उपायों में जब विफल हो जाती है, तब जाकर वह ‘समरसता’ को मनुष्य के अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) में परिवर्तन लाने वाले आन्तरिक साधन को अपनाती है। वह यह सिद्धान्त तब मान लेती है जब श्रद्धा द्वारा इसी माध्यम से मनु के व्यक्तित्व का कायाकल्प हो चुका होता है। मुक्तिबोध चाहते हैं कि इड़ा बाहर से ‘समानता’ लाने के लिए मार्क्सवादी दर्शन को अपनाती पर ‘कामायनी’ के प्रतिपाद्य की साकल्यपरक संरचना में इस निदान को खारिज कर दिया गया है। पहले श्रद्धा भी मनु को बाहर से विचारों के द्वारा उसकी मानसिकता को बदलना चाहती है और बाद में इड़ा भी यही करती है। पर इस माध्यम से दोनों को किसी प्रकार की सफलता नहीं मिल पाती है। यही इस बात का संकेत है कि कोई भी बाहरी विचार-दर्शन, जो मनुष्य के अन्तःकरण का परिवर्तन नहीं कर सकता, वह इस समस्या का सम्यक् और स्थायी समाधान नहीं हो सकता।

मुक्तिबोध मनुष्य के मन की बाहरी और अन्दरूनी सतह का रहस्य समझते थे। उन्होंने लिखा है कि “मनुष्य साधारणतः मानस की ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ, अभिमान और बौद्धिक ज्ञान भी इन्हीं छिछले पानी में पनपने से उन्हें बाहर की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत में सन्तोष नाम की चीज नहीं मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के बजाय जब मानवी मन बाहर भटकता फिरता है, तब सिवाय भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद उसे आश्रय नहीं सकता। (यदि उसमें कुछ भी भेदक सूक्ष्म दृष्टि है।) आशावाद का दूसरा नाम है आत्मबल। आत्मबल के लिए किसी ऐसी विशालता का आश्रय लेना होता है, जो हमारे जर्जर, अन्ध मानस को त्राण दे सके : जहाँ वह अपने प्राणों को, टिकाकर—सुरक्षित होकर—जीवन के अन्तर्बाह्य संकटों से लड़ सके।” (द्रष्टव्य : ‘कुछ और डायरी’, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-177-178) यहाँ मुक्तिबोध को समस्या की पहचान-परख तो ठीक है, पर उनका समाधान जिस विशालता का आश्रय लेने पर निर्भर है वह तो ‘मार्क्सवाद’ का विचार-दर्शन है। वे ‘कामायनी’ में निरूपित दर्शन की प्रकृति, उसकी आन्तरिक परिवर्तन-क्षमता आदि की उपेक्षा कर अपने विचार-दर्शन के केन्द्र में रखकर ‘कामायनी’ की आलोचना करते हैं। यह उचित नहीं है। यहाँ जो असंगति है, इसका अहसास मुक्तिबोध को है, पर यही असंगति उनकी इस आलोचना में विद्यमान है—“यह बात अलग है कि एक विशेष अवधि में विशेष साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए अथवा अनुत्साहित करने के लिए एक अलग नीति अपनाने के खयाल से केवल एकदृष्टीय, एकरेखीय आलोचना की जाए।” कहना न होगा कि ‘कामायनी’ के विषय में उनकी आलोचना इसी एकदृष्टीयता और एकरेखीयता का शिकार हो गई है। (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-60) मुक्तिबोध अपने आरोपों में यहाँ तक कह देते हैं कि ‘कामायनी’ में और अध्याय जोड़े जाने चाहिए थे। यह ठीक वैसा ही है, जैसा

कभी जैनेन्द्र ने कहा था कि मैं यदि 'गोदान' लिखता तो वह 125-30 पृष्ठों का उपन्यास होता। पर न जैनेन्द्र ने दूसरा 'गोदान' लिखा और न मुक्तिबोध में 'कामायनी' या वैसा कोई काव्य, जिसमें समस्याओं के स्थायी और सार्थक समाधान के रूप में मार्क्सवादी दर्शन की स्थापना की जाती! मुक्तिबोध ने ही कहीं लिखा है कि ऐसी कृतियों की आलोचना के लिए "देखने योग्य यह होता है कि कवि ने जो कथा की संघटना की है, वह कहीं दोषपूर्ण है क्या?" इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कामायनीकार ने 'कामायनी' में जो कथा की संघटना की है, वह अपने-आप में प्रतिपाद्य, उद्देश्य और निरूपण—तीनों ही दृष्टियों से दोषरहित है। हाँ, मुक्तिबोध के आरोपों के अनुरूप यदि उसकी कथा-संघटना में परिवर्तन किया जाए तो वह न केवल दोषपूर्ण, बल्कि त्रिशंकु कथा-संघटना हो जाएगी। वह अपने संकल्प और साध्य से भ्रष्ट तो होगी ही, पर मुक्तिबोध के अभीष्ट साध्य को भी उसके कच्चेपन और त्रुटिपूर्ण रूप को 'मिसफिट' रूप में दर्शा सकेगी। इस तरह मुक्तिबोध 'कामायनी' की भावन और आलोचन-प्रक्रिया में कहीं भी न्याय नहीं कर पाए हैं, क्योंकि वे स्वयं 'कामायनी' को समझने में असफल रहे हैं। मैं प्रभाकर श्रोत्रिय के उस कथन से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ कि "मुक्तिबोध ने नए सिरे से 'कामायनी' का अनुशीलन किया। ... लेकिन वे भी उसमें अर्धसत्य ही देख सके।" ('जनसत्ता' रविवारी, 16 मार्च, 2015, पृष्ठ-1) मेरी दृष्टि में मुक्तिबोध ने तारतम्य के रूप में कामायनी का साकल्यपूर्ण अनुशीलन नहीं किया और न वे उसके किसी आंशिक सत्य को ही देख सके।

प्रसाद ने 'कामायनी' में ही अपने ऐसे प्रत्यालोचकों के लिए मानो अपना बहुत स्पष्ट मत व्यक्त कर दिया है—“मन जब निश्चित-सा कर लेता / कोई मत है अपना; / बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का / सतत निरखता सपना / ... सदा समर्थन करती उसकी / तर्कशास्त्र की पीढ़ी; / ठीक यही है सत्य! / यही है उन्नति-सुख की सीढ़ी / और सत्य! यह एक शब्द तू। कितना गहन हुआ है; / मेधा के क्रीड़ा-पंजर का / पाला हुआ सुआ है।” (कामायनी, कर्म सर्ग) मुक्तिबोध भी 'कामायनी' की पाठ-प्रक्रिया से गुजरने के पूर्व ही 'कामायनी' के बारे में अपना विरोधी मत निश्चित कर लेते हैं। वे मार्क्सवाद की कसौटी पर 'कामायनी' को कसते हैं, जो कि उसका प्रतिपाद्य ही नहीं है। इसके लिए वे अपने बुद्धि-बल से 'कामायनी' की असफलता का प्रमाण ढूँढ़ने लग जाते हैं। पर वे जो प्रमाण जुटाते हैं वे कारगर सिद्ध नहीं हो पाते हैं। मुक्तिबोध की ऐसी आलोचना की मेरे द्वारा ऊपर की गई प्रत्यालोचना इस तथ्य को स्पष्ट कर देती है। फलतः 'कामायनी' को असफल कृति घोषित करने का उनका प्रयास एक दुःस्वप्न ही सिद्ध होता है। भले ही मार्क्सवादी 'कु'तर्क उनका समर्थन करें और अपने दर्शन को ही उन्नति-सुख की सीढ़ी मानें। पर सत्य है क्या? उसकी प्रकृति क्या है? वह तो बुद्धि-सापेक्ष है—“मेधा के क्रीड़ा-पिंजर का पाला हुआ सुआ” है। मुक्तिबोध का सत्य

'कामायनी' पर आरोपी है, वह वहाँ 'मिसफिट' है, क्योंकि 'कामायनी' के भीतर से उद्भूत होनेवाला सत्य कुछ और है। यह सतत अन्तःकरण की शुद्धि से उद्भूत है। वह रजोगुणी बाह्य संघर्ष का सत्य नहीं है, बल्कि सतोगुणी 'प्रत्यभिज्ञा' का आत्म-अभिज्ञान का सत्य है। 'कामायनी' में आदि से अन्त तक इसी सत्य की लय-स्रोतास्विनी प्रवाहित है, कहीं मन्द तो कहीं तीव्र और अन्तर्गर्भी!

'कामायनी' में प्रसाद ने मानो 'कामायनी' की पाठ-प्रक्रिया का भी निरूपण कर दिया है। 'इड़ा' सर्ग में इड़ा जब मनु से कहती है—“क्षितिज-पटी को उठा बढ़ो ब्रह्मांड-विवर में / गुंजारित घननाद करो इस विश्व-कुहर में; / ताल-ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें / तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें”—तब वह मनु को स्वार्थ त्याग ब्रह्मांड-व्यवस्था को समझने का, लोक हितार्थ ताल-ताल पर चलने का, उसी लोक-लय को पकड़कर चढ़ने का और स्वार्थ के वशीभूत अहम्मन्यता और कामान्धता के विवादी स्वर नहीं छेड़ने का आग्रह करती है, जिसका मनु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह इस आग्रह को अपने कर्म से ठुकरा देता है और विश्व-व्यवस्था की लय को भंग कर देता है। वह स्वार्थ को क्षितिज-पटी को उठा नहीं पाता। वैश्विक जन-समूह के कल्याणार्थ विश्व के बीच जा नहीं पाता और उसकी लोक-चेतना का घन-नाद भी गुंजारित नहीं कर पाता। उस नाद के ताल-ताल पर चल नहीं पाता। वह वैश्विक एकलयता को भंग करता है और अपना विवादी स्वर छेड़ने लगता है, लोक से संवाद नहीं बना पाता है। ठीक इसी तरह ये पंक्तियाँ, 'कामायनी' के पाठकों को भी दिशा-दान करती हैं। 'कामायनी' की सही पाठ-प्रक्रिया है उसकी बाह्य-संरचना (क्षितिज-पटी) को उठाकर कृति के आन्तरिक विश्व (ब्रह्मांड) में उतरना। कृति के पाठ में जो प्रतिपाद्य और साभिप्रायता का घन-नाद है, उसे पहचानना और उसे निरूपित करना। आदि से अन्त तक मर्म के ताल-ताल पर चलना उसे आत्मसात करना। अर्थवत्ता की उस आद्यन्त प्रवाहित लय को तारतम्य में देखना, जिससे कोई 'लय' 'मिस' नहीं हो छूट नहीं पाए। जब तक इसकी पूरी पहचान न हो जाए, इससे संवाद न स्थापित हो ले, तब तक किसी भी प्रकार का विवादी स्वर नहीं छेड़ना, नहीं उठाना। इस आलोक में यह पूछा जाना चाहिए कि 'कामायनी' के कितने ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने पाठक के रूप में इस पाठ-प्रक्रिया को पार किया है और कितने ऐसे हैं, जिन्होंने बिना इस पाठ-प्रक्रिया से गुजरे, बिना इस कृति की आत्मा में, इसकी अन्तर्गर्भिता में उतरे, बिना इसकी पहचान किए और बिना इससे संवाद स्थापित किए ही अपने-अपने विवादी स्वर छेड़ने को महत्वपूर्ण माना है और 'कामायनी' तथा कामायनीकार पर आरोप-पर-आरोप कर डाले हैं—“मनन कर मनन, शकुति नादान / न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान!”

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'कामायनी' पर आरोप-पर-आरोप करनेवाले सारे कवि-आलोचक 'कामायनी' के संवेदन-भावन में असफल रहे हैं। वे पूरी

‘कामायनी’ में अन्तर्व्याप्त लोक-लय की पहचान नहीं कर सके हैं वे ‘कामायनी’ में व्याप्त उस तनाव को पहचानने में भी असमर्थ सिद्ध हुए हैं, जो रजोगुणी बनाम सतोगुणी प्रकृति का तनाव है, जो भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के बीच का, ‘अन्तःकरण’ (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के संशोधन-परिवर्तन बनाम बाह्य (स्वार्थ-लिप्सु दैहिक सुख-भोग) की पुरस्सरता का तनाव है। इन आलोचकों ने न तो ‘अध्यात्म’ की और न ही ‘प्रत्यभिज्ञा’ की सही पहचान की है। यह इनकी समझ से परे है कि ‘अध्यात्म’ ‘आत्म’ को पहचानने की प्रक्रिया का ही विज्ञान है और ‘प्रत्यभिज्ञा’ भी आत्म की पहचान (Self-Recognition) ही है। इन दोनों से मानसिकता निष्कलुष होती है। इसी से स्वहित की परिधि से बाहर निकलकर लोकहित की व्याप्ति में लीनता और परिग्रह से मुक्ति मिल पाती है। अतः ‘कामायनी’ की पहचान और परख के लिए सम्यक् ‘भावयित्री प्रतिभा’ के साथ-साथ उपनिषद् गीता और भारतीय संस्कृति का ज्ञान अपेक्षित है। तभी कामायनीकार और ‘कामायनी’ की मूल संवेदनों की सृष्टि-दृष्टि को समझा जा सकता है।

विकास की संकीर्ण समझ

शंकर शरण*

विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार गिबबन ने बताया है कि ईसाइयत से पहले के प्रचलित धर्म विश्वास ग्रीक-रोमन राज्यों में किस प्रकार विनष्ट हो गये। ग्रीक लोगों ने आज के भारतीयों की तरह ‘सर्वधर्म समभाव’ रखा था। वे सभी धर्म विश्वासों, उनके चिन्तकों को एक जैसा अच्छा, उपयोगी, अनुपयोगी या बुरा मानकर उनके प्रति समान बर्ताव रखते थे। इस नैतिक तटस्थता के वातावरण में अधिक कटिबद्ध और असहिष्णु ईसाइयत की विजय हुई। पुराने धर्म-विश्वास बेमौत मारे गये जो तब तक पूर्ण प्रतिष्ठित थे। वे पुराने विश्वास कितने हितकर, उदार एवं मूल्यवान थे, इसकी पूरी झलक मार्क्स औरिलियस की प्रसिद्ध पुस्तक ‘मेडिटेशंस’ से मिल जायेगी, जो ईसाइयत से ठीक पूर्व की रचना है। इस में वह दर्शन और आध्यात्मिक विचार हैं, जो तब तक यूरोप में मौजूद थे।

उस मूल्यवान धर्म-दर्शन को ईसाइयत ने बलपूर्वक जड़ से उखाड़ डाला। इस प्रसंग के स्मरण का आशय यह है कि विगत सौ वर्ष से भारत उसी नैतिक तटस्थता के आत्मघाती वातावरण में जी रहा है। ‘ईश्वर-अल्ला तेरो नाम’ का गलत और घातक गाँधीवादी नारा केवल एक समुदाय के गले उतारा गया है। नतीजे में एक तिहाई से अधिक भारत में हिन्दू धर्म-दर्शन व हिन्दू समुदाय नष्ट या नष्टप्राय हो चुका है। अतः यदि देश के ‘विकास’ के प्रति संकीर्ण समझ को सुधारा न गया, तो वह प्रक्रिया रुक नहीं सकेगी। इस आशंका से भारत के लिबरल, सेक्यूलर, वामपन्थी बुद्धिजीवियों को कोई चिन्ता नहीं।

लेकिन संघ परिवार और भाजपा के वैसे आधुनिक समर्थक, जो केवल आर्थिक ‘विकास’ योजनाओं को मोदी सरकार की प्राथमिकता मानते हैं, एक बड़ी भूल कर रहे हैं।

*प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, बड़ौदा विश्वविद्यालय

क्योंकि सब से पहली बात— अपने लोग, अपने धर्म और अपने क्षेत्र की रक्षा करना ही किसी सरकार का पहला कर्तव्य होता है। सामान्य व अनुकूल परिस्थितियों में विकास तो लोग स्वयं कर लेते हैं। यह हिन्दुओं के लिए विशेष रूप से सत्य है। उद्योग, व्यापार और सामंजस्य से जीना एवं दूसरों को जीने देना हिन्दुओं को स्वतः आता है। जो कार्य उन्हें नहीं आता, वह है सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करना, स्थाई बैर-भाव से प्रेरित शत्रुओं को पहचानना, तथा उनसे निपटने के उपाय सोचना। केवल इन्हीं बिन्दुओं पर उन्हें किसी की, और सरकार की भी मदद, मार्गदर्शन चाहिए।

गुजरात तो स्वयं इसका उदाहरण होना चाहिए। व्यापार, विकास में गुजराती सदैव आगे रहे हैं। तब उन्हें गोधरा में जिन्दा क्यों जलना पड़ा। वह भी पहली बार नहीं। पीछे भी देखें, देखते चलें, तो सोमनाथ बार-बार लुटता क्यों रहा? इसी स्थिति को देशव्यापी पैमाने पर भी देखने, समझने की जरूरत है। आज लाहौर, ढाका, मुलतान, श्रीनगर आदि महान ऐतिहासिक भारतीय नगरों में आर्य समाज, रामकृष्ण आश्रम या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ क्यों नहीं है? क्या वे स्थान पहले अत्यन्त विकसित नहीं थे। तब उस 'विकास' का क्या हुआ, उस विकास से किसे कोई मतलब न था, बल्कि किसी और चीज से था।

आर्थिक विकास से पूर्णतः निरपेक्ष वह चीज क्या है, और जो वर्तमान, स्वतन्त्र भारत में भी, अत्यन्त हाल में, श्रीनगर में घटित हुई, और गोधरा, मराड, किस्तवाड़ जैसे कई भारतीय नगरों, कस्बों में धीरे-धीरे रोज हो रही है—उस चीज को ठीक से पहचानना और उसके प्रतिकार की योजना बनाना किसी भी भारतीय नेतृत्व के लिए उतने ही प्राथमिक महत्त्व की बात होनी चाहिए, जितना चुनाव लड़ना और काँग्रेस या इसको या उसको हराना। बल्कि 'काँग्रेस मुक्त भारत' बनाना एक गलत नारा है। हर तरह की 'विषमता से मुक्त और सम्मान-युक्त भारत' बनाना सही नारा होगा।

विकास के नाम पर लोगों ने मोदी को वोट दिया है, यह अतिरंजित कल्पना है। क्योंकि तब आठ ही महीने में दिल्ली महानगर राज्य को मोदी-विमुख नहीं हो जाना चाहिए था।

वैसे भी, शीला दीक्षित ने अगर दिल्ली में कुछ किया था, तो विकास ही किया था। किसी भी आर्थिक नजरिये, से देखें तो दिल्ली देश का सबसे विकसित राज्य है। फिर दिल्ली के लोगों को क्या हो गया? जबकि वास्तव में मोदी ने विगत आठ महीनों में विकास और तदनुरूप राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय नीति निर्माण के लिए ही अथक परिश्रम किया है।

इस प्रश्न का सरल उत्तर इसीलिए नहीं मिल सकता, क्योंकि मोदी की लोक-सभा जीत को केवल विकास से जोड़ लिया गया है। यह सच नहीं था। लोगों ने उनसे कुछ और भी चाहा था। वह था चालू हिन्दू-विरोधी सेक्यूलरिज्म राजनीति को दृढ़तापूर्वक, और पूरी तरह नेस्तनाबूद करना। मजहबी आधार पर भेदभाव को अमान्य

कर हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई समानता को सर्वतोमुखी लागू करने की दिशा में सहजता से बढ़ना। चाहे धीरे-धीरे, चुपचाप ही। इसके लिए हिन्दुओं के विरुद्ध जारी कानूनी, राजनीतिक और शैक्षिक भेदभाव को बन्द करना या उसकी जरूरत रेखांकित करते रहना, समाज को स्वयं उस ओर प्रेरित करना सच्चे नेतृत्व के लिए एक अनिवार्य कार्य है। इसमें सरकार की अपनी प्रत्यक्ष कार्यवाही से अधिक सामाजिक, शैक्षिक, वैचारिक संस्थानों की भूमिका है, लेकिन उसे प्रोत्साहित करना किसी दूरदर्शी राजनीतिक नेतृत्व का उत्तरदायित्व है।

किन्तु मोदी सरकार ने इस पूरे मामले की अनदेखी-सी करने का रवैया अपनाया। इसे सचेत लोग सरलता से देख-समझ सकते हैं। समर्थक भी और विरोधी भी। अपने विशिष्ट धर्मनायकों, राष्ट्र-नायकों का स्मरण, उनकी सीखों को औपचारिक शिक्षा में शामिल करने की चिन्ताएँ वर्तमान बौद्धिक तपस्वियों, योद्धाओं का भरपूर सम्मान, उन्हें उचित आसन, सहयोग, आदि ताकि उनके कार्य और क्षमता बढ़ें। साथ ही सांकेतिक सांस्कृतिक निर्णय, आदि होने, होते रहने या न होने से सरकार के रवैये को सचेत लोग पहचानते हैं। देशी, विदेशी, शत्रु, मित्र, सभी।

इसीलिए समय के साथ वैचारिक रूप से सचेत मोदी समर्थकों में मायूसी और वैसे ही सचेत विरोधियों में राहत-उत्साह भावना का संचार होने लगा। इसे न महसूस कर पाना हिन्दू नेताओं की वही पुरानी कमजोरी है, जिससे भारत के विभिन्न हिस्सों से सदियों से धीरे-धीरे हिन्दुओं का सफाया होता गया। वे अपनी ही सदृच्छाओं से शत्रुओं की भावनाओं का गलत अनुमान लगाते मारे जाते हैं। वे सभ्यतागत शत्रु विचारधाराओं, उनकी बुनियादी प्रवृत्तियों, साम्राज्यवादी आकांक्षाओं, योजनाओं, नीतियों, आदि को पहचानते ही नहीं, अथवा पहचानकर भी भूल-से जाते हैं।

मोदी सरकार इसे क्यों नहीं समझ सकी कि कश्मीरी मुसलमानों को शेष भारत की उदारता, प्रधानमंत्री की मासिक हाजिरी और करोड़ों-अरबों रुपयों की विशेष मदद आदि से भिन्न किसी चीज की जरूरत है? वह उदारता और ईमदाद तो उन्हें मिलते ही रहे हैं, और उसे वे कोई अपना उपकार नहीं, अपना अधिकार समझते हैं। विशेषाधिकार। यह मनोरोग है जो दूसरे की उदारता और अपने स्वार्थ को अपना दैवी विशेषाधिकार समझे।

अस्तु, किसी रोगी को दवा की भी जरूरत होती है। भटके हुआँ को समुचित, चाहे अरुचिकर उपदेश भी देना आवश्यकता होता है। किसी अहंकारी और उहड़ के लिए कुछ दंड भी लाभप्रद होता है। नशेड़ी को खटाई खिलानी पड़ती है, मिठाई नहीं। जिन लोगों ने अपने सक्रिय और निष्क्रिय, दोनों प्रकार के कदमों से कश्मीरी पंडितों को उजाड़ दिया, वे सब अतीत में विलीन नहीं हो गये हैं। उनमें से अनेक अभी रंगमंच पर मौजूद हैं। वे भाजपा के समर्थन से मुख्यमन्त्री बनने की तैयारी कर रहे हैं, और इसके लिए भाजपा पर ही आँखें कड़ी कर रहे हैं।

क्या उन कश्मीरी मुस्लिमों की दिलजोई करनी चाहिए थी, जबकि उन्होंने अपने किसी कुकर्म का मार्जन नहीं किया, न करने का इरादा रखते हैं। आखिर कुछ विचारों तो सही कि सच्ची सद्भावपूर्ण उदारता, प्रधान मन्त्री की मासिक यात्राएँ और बाढ़ आपदा में अभूतपूर्व सहायता देने के बावजूद कश्मीर घाटी में भाजपा उम्मीदवारों की जमानतें क्यों जब्त हो गयीं? इसी कठिन प्रश्न में सरल समाधान की दिशा छिपी है।

वह दिशा है : हिन्दुओं की शक्ति-संगठन करने की क्षमता बढ़ाना और इसे स्थाई कार्य बनाये रखना, उनमें हर तरह के शत्रुओं से वैचारिक-भौतिक-शारीरिक रूप से लड़ने की इच्छा और योग्यता बनाना एवं बनाय रखना तथा सच्चाई से और शत्रुओं से आँख मिलाकर बात करने की सामर्थ्य प्राप्त करना। यह बरायनाम सच्चाई है कि इस्लाम के वर्चस्व या बढ़त में भी समय के साथ हिन्दुओं का मिट जाना तय है। यह कोई सांयोगिक बात नहीं, अटल सिद्धान्त है। इसका व्यावहारिक प्रतिफलन ढाका, लाहौर, मुलतान आदि में पूरी तरह हो चुका। श्रीनगर, पुलवामा, रजौरी में लगभग हो चुका और जम्मू तथा शेष भारत में भी, ईशाअल्लाह, होगा।

इस विकट सच्चाई का सामना हिन्दू केवल इस तरह कर सकते हैं कि वे भी इस्लाम को मिटाने की अघोषित लड़ाई लड़ें और लड़ने को तैयार हों। इसमें उन्हें कोई दुविधा या सन्देह नहीं रहना चाहिए। इस लड़ाई की तैयारी, विधि, समयानुसार रूप, आदि पर मतभेद हो सकता है। किन्तु इस लड़ाई को गलत मानना या नजर चुराना हिन्दुओं के सम्भावित खात्मे का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस्लाम को हराने, मिटाने की लड़ाई हिन्दुओं की आत्मरक्षा की लड़ाई है। इसलिए बाध्यकारी है। ऐसा सोचने, समझने और जरूरत पड़ने पर बोलने से उन्हें दुनिया क्या कहती है, इसे भूलकर हिन्दुओं को केवल यह याद रखना होगा कि इस्लाम सदैव उन्हें मिटाता रहा है, मिटाना चाहता है, इसलिए इस्लाम को मिटाने का लक्ष्य रखना हिन्दुओं का स्वाभाविक कर्तव्य है। पहले वे बचेंगे, तभी दुनिया से उनका संवाद होगा या मान-अपमान, उलाहना या यश मिलेगा।

आज अमेरिकी या यूरोपीय दुनिया उन हिन्दुओं के लिए नहीं रोती, जो पाकिस्तान के दोनों हिस्सों से मिटा दिये गये। वह हिस्सा सत्तर वर्ष पहले भारत ही था—इस सच्चाई को भुला देने से भूत नहीं भाग जायेगा। वह अभी भी सिर पर बैठा है जिसका अपशकुनी अहसास कितने ही ओवैसी, आजम खान, बुखारी, सिमी, इंडियन मुजाहिदीन आदि देते रहते हैं। क्या वे इक्के-दुक्के या महत्त्वहीन हैं? सारे हिन्दू नेताओं, सेक्यूलर, लिबरल समेत, और न्यायपालिका तक का उनके प्रति रुख ही कड़वी सच्चाई की चुगली कर देता है। मगर इन सबके प्रति मानो एक अघोषित शुतुरमुर्गी रवैया रखा जाता है। तदनुरूप बचे-खुचे भारत के हिन्दुओं को उसी तरह निर्विकार अन्दाज रखने की सलाह दी जाती है। इस्लामी सिद्धान्त को सर्वोच्च मानकर की जाती हर संविधान विरोधी, बुद्धि विरोधी, मानवता विरोधी गतिविधि को तरह

दी जाती है। यही गाँधी जी ने तीन दशकों तक किया था। उनका सम्पूर्ण वाङ्मय इस का गवाह है। किन्तु परिणाम क्या मिला? इसलिए, इस्लामी सिद्धान्त की आलोचना और मुसलमानों से उसे छोड़ने, त्यागने की माँग न करना हिन्दुओं के लिए आज भी गलत नीति है। कुछ यह सोचकर, कि दुनिया क्या कहेगी और मानवाधिकारी क्या कहेंगे, तो वे अपनी कब्र खोद रहे हैं। आत्मरक्षा और आत्मसम्मान सदैव अपना काम होता है।

हिन्दुओं की आत्मरक्षा या रक्षा ब्रिटिश या अमेरिकी लोग नहीं करेंगे। अन्यथा सन् 1946-47 में या 1970-71 में लाखों-करोड़ों हिन्दुओं का निःशब्द संहार व विध्वंस न हुआ होता। उदारवादी, सेक्यूलरवादी, गाँधीवादी या 'विकासवादी' हिन्दुओं की हिचक या भीरुता को स्वभाव से ही लड़ाकू इस्लामी मानसिकता बखूबी समझती है, और इसीलिए ऐसे हिन्दुओं का आदर नहीं करती।

इस्लाम ताकत की भाषा जानता है, और वही भाषा समझता है। इसीलिए कश्मीरी मुसलमानों के प्रति मोदी की उदारता से भाजपा के हिस्से में अंडा आया। वहाँ भी और दिल्ली में भी। इसके विपरीत जब कोई हिन्दू नेतृत्व इस्लाम को हराने, सुधारने या ठिकाने लगाने की ठानेगा, और तदनुरूप नीतियों, कार्यक्रमों की दिशा निर्धारित करेगा, यानी मुसलमानों के किसी भी विशेषाधिकार को नामंजूर करेगा—तभी मुसलमान उसका आदर करेंगे। यह विरोधाभासी भले लगे, पर यही सच है। क्योंकि वह शक्ति की भाषा होगी। एक संन्यासी ने स्मरण दिलाया है कि इस्लाम की ताकत से डरकर या झुककर ही लोग मुसलमान बने थे। इस्लाम विरुद्ध ताकत के अधिक प्रबल होने पर ही उनकी घरवापसी का मार्ग आसान होगा। निस्सन्देह, इन बिन्दुओं को कहना उतना जरूरी नहीं, जितना उस दिशा में कार्य करना आवश्यक है।

यह सब विकास के विरुद्ध नहीं, बल्कि अनुकूल है। विकास के साथ-साथ विकास की रक्षा सरकार का उतना ही जरूरी कर्तव्य है। जब भारतीय नेतृत्व ऐसा करने की अपनी कटिबद्धता रखेगा, और जरूरत पड़ने पर दर्शाने से भी नहीं हिचकेगा, तभी वास्तव में बराक ओबामा जैसे लोग उसके अधिक सहज मित्र बनेंगे। प्यार, मुहब्बत, मुरव्वत आदि से राजनीति या कूटनीति में कुछ हासिल नहीं होता। यदि कुछ मिलता है तो मात्र उपेक्षा। यहाँ महात्मा गाँधी की तीन दशकों की विफल राजनीति से यह महँगा सबक हमें सीख सकना चाहिए था। यह नहीं सीखा जा सका है, और कई हिन्दू नेता बार-बार महात्मा गाँधी बनने की कोशिश करते हैं। तब परिणाम भी कारगिल, गोधरा, आजम-ओवैसी आदि की नियमित धमकियाँ, कश्मीर में भाजपा की जमानत-जब्ती, आदि से भिन्न नहीं होगा।

निस्सन्देह, आम हिन्दू वोटर उपर्युक्त बातों को हू-ब-हू इसी तरह नहीं पहचानता। किन्तु अपनी अन्तः प्रेरणा से किसी-न-किसी रूप में समझता है। हर किसी आलोचक, निन्दक, यहाँ तक कि हिन्दू विरोधी मिशनरी एजेंटों तक को भाजपा में शामिल कर

लेना, उन्हें सांसद, मन्त्री, आदि बना डालना—जबकि कठिनतम सामाजिक, निजी हालातों को झेलते हुए हिन्दू चेतना जगाने की लड़ाई लड़ने वाले तपस्वियों को भी अपने हाल पर छोड़ देना—यह सामान्य हिन्दू मतदाता बिल्कुल नहीं जानता, समझता, ऐसा मानना भूल है। वह अपने तरीके से कुछ अस्पष्ट संकेत समझने लगता है जो सत्ताधारी नेताओं की गतिविधियों, बयानों से झलक जाती हैं।

वह अस्पष्ट संकेत अखबारों से मिलने वाली विविध खबरों से भी मिलती हैं। वह दिखाती हैं कि क्या नहीं बदला है। अथवा क्या नहीं बदलने पर सरकार की ओर से कोई चिन्ता नहीं दिख रही है। किन लोगों, घटनाओं के तेवर नहीं बदले हैं। कौन से वादे पूरे होने की दिशा में कुछ खास पहल या परिणाम नहीं दिख रहे हैं। उसके विपरीत कौन-सी नई प्राथमिकताएँ सामने आ गयीं हैं। यह सब गड़मड़ होकर कुछ निश्चित संकेत देते हैं। जब सामान्य हिन्दू मतदाता चालू राजनीति की सामान्यता में कोई नई विशेषता नहीं देख पाता, तब उस अनाथ का मोहभंग होने लगता है।

व्यक्ति के रूप में और समूह के रूप में एक सामान्य हिन्दू का राजनीतिक व्यवहार हमेशा तर्कपूर्ण नहीं लगता। लेकिन उसमें कोई तर्क है, इसे किसी दूरदर्शी नेतृत्व को देख सकना चाहिए।

एक हिन्दू के लिए धर्मरक्षा पारम्परिक रूप से स्थायी चिन्ता रही है। यहाँ धर्म का मतलब रिलीजन नहीं है। बल्कि पाप, अनाचार, अत्याचार से त्राण पाना, तथा साथ-ही-साथ संगठित धर्मान्तरणकारियों से अपने को और अपने देश को बचाना, दोनों ही हैं। इस समेकित अर्थ में धर्मरक्षा की लड़ाई विकास का अभिन्न अंग है। होना चाहिए। सामान्य हिन्दू यह समझता है। उसके नेता भी अचेतन समझते हैं, पर तात्कालिक राजनीतिक दाँवपेंच या प्रलोभन या प्राथमिकताओं की वेदी पर उसे होम कर देते हैं। वे स्वयं तो नहीं मानते कि होम कर रहे हैं, वे तो उसे टालते भर हैं कि 'आगे करेंगे'। पर वह अवसर कभी नहीं आता, नहीं आ सकता।

क्योंकि धर्मरक्षा की लड़ाई स्वभाव से ही प्रतिक्षण, अनुक्षण की लड़ाई है। राजनीति विशारद चाणक्य ने भी यही कहा था, '...गृहीता एव केशेषु मृत्युणां धर्माचरेत्'। अतः धर्मरक्षा की लड़ाई टालने का मतलब ही उसे होम करना है। क्योंकि दुष्टता, पापाचार, अनाचार, अत्याचार, प्रतिदिन हो रहा है। जिसके साथ हो रहा है, वह रायसीना हिल पर नहीं रहता, इसलिए उस लड़ाई को टालने वाले उसकी नियमित अनिवार्यता नहीं देख पाते!

तब लीगी, जिहादी और इस्लामवादी भी रोज-रोज कहीं-न-कहीं गैर-मुस्लिमों की जर, जोरू, जमीन व धर्म-विश्वास छीन या भ्रष्ट कर रहे हैं। के. पी. एस. गिल के अनुसार पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) के साथ भारत की सीमा पिछले पचास सालों में इस तरफ सौ मील खिसक आयी है! यह किसकी जमीन है, जो चली गयी। वह मणिशंकर अय्यर, रोमिला थापर या राजेन्द्र सच्चर की जमीन नहीं थी, इसी से उसे

नजरअन्दाज करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है! वह दुर्बल, अनाम, असहाय बंगाली हिन्दू थे, जिन्हें बचाने वाला कोई न था। वह प्रक्रिया बन्द नहीं हुई है। मुस्लिम अतिक्रमणकारियों का स्थाई, क्रूर व्यंग्य सीमावर्ती क्षेत्रों में हर हिन्दू को आतंकित, त्रस्त किये रखता है : 'गोरू राखबि कैपे, टाका राखबि बैंके, बोउ राखबि कोथाय?' (इसी से मिलती-जुलती हृदय विदारक पंक्तियाँ लाखों कश्मीरी पंडितों ने भी सुनी हैं) किसी भी विकास से अधिक जरूरी इस त्रास से लोगों की रक्षा करना है—यह किसी भी स्वाभिमानी सरकार को समझ सकना चाहिए। अन्यथा सरकार को धिक्कार है!

अतः आज पश्चिम बंगाल में भाजपा के प्रति जो आशा आम हिन्दुओं में दिखाई पड़ रही है, वह केवल आर्थिक विकास के लिए नहीं है!

उसी प्रकार, ईसाई मिशनरी भी चर्च व ईसाइयत के वर्चस्व के लिए हर रोज किसी-न-किसी विवश या भ्रमित हिन्दू का जीवन, समाज और विश्वास नष्ट कर रहे हैं। यह छल भी ल्युटन की दिल्ली में नहीं होता दिखता, तो यह अर्थ नहीं कि ओड़ीशा, झारखंड, बिहार, पंजाब, आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल आदि अनगिन जगहों पर यह प्रतिदिन नहीं हो रहा है।

अतएव, अभी ये विदेश दौरा है, अभी वो राज्य चुनाव है, अभी आम बजट है, अभी अलाँ समस्या या फलाँ काम है, ऐसे नाम पर यदि धर्मरक्षा की लड़ाई पीछे छूटती है, तो हर दिन कोई-न-कोई हिन्दू मरता, जलील होता है। उसके पड़ोसी, सम्बन्धी या दूरवर्ती हिन्दू नहीं भी मरते, जलील होते, तो वे इसे जानते और देखते जरूर हैं। वे यह भी देखते हैं कि 'हिन्दुत्व' की संज्ञा या विशेषण से विभूषित/ लांछित होने वाले अनेक नेता इस पर कुछ विशेष चिन्तित नहीं लग रहे। तब आर्थिक विकास या लाभ ही यदि मुद्दा रह जाये, तो केजरीवाल क्या बुरे हैं! आखिर भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई तो उन्होंने भी लड़ी ही है।

वैसे भी, भारत में जब दो सेक्यूलर विकल्प सामने हों, तो अधिक ताकतवर वह होगा जिसे हिन्दू चिन्ता से कुछ लेना-देना ही न हो। क्योंकि तब उसे मुसलमान, ईसाई मिशनरी, माओवादी, अलगाववादी और हर प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय हिन्दू विरोधी, एन.जी.ओ., आदि मदद देंगे। बेचारा भाजपाई हिन्दू नेता इसकी काट करने में असमर्थ होगा, क्योंकि वह अपनी सदाशयता, परिश्रम, विकास कार्य योजनाओं, जोड़-तोड़ की राजनीति, आदि पर स्वतः मुग्ध होकर राजनीति की असली बात भूल जाता है। वह बात जो उसकी पकड़ में आयी थी, मगर भ्रमवश उसने उसे हाथ से छोड़ दिया।

वह मूल बात यह है कि हर राजनीति मूलतः और अंततः शक्ति की राजनीति होती है। यदि कोई नेता हिन्दू चेतना के उभार से जुड़ा हुआ है (चाहे या अनचाहे), तो उसकी शक्ति हिन्दू जनता की सचेत और संगठित क्षमता से जुड़ी हुई है। अटल बिहारी वाजपेयी इसे नहीं समझ पाये, और 'इंडिया शाइनिंग' के बावजूद खेत रहे। रथयात्रा करके लालकृष्ण अडवाणी ने भी उसे विस्मृत किया, तो किनारे चले गये। उन

दोनों ने भी विकास और दलीय जोड़-तोड़, समीकरण, अपनी उदारता, धन जुटाने की कला, आदि को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दिया था। भगवान न करे, वही भूल मोदी सरकार करने की ओर बढ़ रही हो! वैसे, कश्मीर, लद्दाख, दिल्ली और मित्र 'बराक'—चारों ने उसे अपने-अपने तरीके से चेतावनी दे दी है।

अभी समय है कि वह राजनीति के मूल सिद्धान्त को फिर से झाड़-पोंछकर देखे और अंगीकार करे। अन्यथा पूरी तरह विकसित, आर्थिक और बौद्धिक, दोनों ही तरह से चमकते लाहौर और ढाका जैसे अन्य भारतीय क्षेत्र भी किसी दिन किसी जिन्ना या पोप सहजता से अपने मुँह में लेकर हजम कर जायेंगे। विगत सौ वर्ष के विश्व इतिहास में इसके अनगिन उदाहरण हैं।

अतः हिन्दू भारत के लिए तो यह कठोर सत्य विशेष रूप से प्रासंगिक है कि विकास से अधिक प्राथमिक है धर्मरक्षा और देशरक्षा। क्योंकि उसका कोई अन्तरराष्ट्रीय धर्म-बिरादर नहीं। इसका भान उससे अधिक उसके शत्रुओं को है। जबकि होना उलटा चाहिए था!

यह भी स्मरण रहे कि धर्मरक्षा और शक्ति राजनीति की प्राथमिकता के कारण ही मोदी को पूरे भारत में अभूतपूर्व मान्यता मिली। यानी, मोदी पहले मोदी बने, राजनीतिक रूप से बचे, और बचे रहे, तब जाकर उन्होंने गुजरात का जो भी 'विकास' किया। कथित गुजरात मॉडल आदि बनाया। यदि सन् 2002 में भाजपा राष्ट्रीय कार्यकारिणी की गोवा बैठक में वे मुख्यमन्त्री पद से मुक्त कर दिये गये होते, जैसा 'राजधर्म' की अपनी गलत समझ से वाजपेयी करना चाहते थे, तो उसका अवसर ही न मिलता।

यही देश के लिए, यानी देश के हिन्दुओं के लिए भी सच है। हिन्दुओं का अस्तित्व, उनका सम्मान, दूसरों के सम्मुख उनकी हीनता दूर हो, तभी भारत के विकास का कोई अर्थ है। इसके लिए निरंजन ज्योति या किसी क्षुब्ध हिन्दूवादी की तरह अटपटे बोलना या हरकतें करना कतई जरूरी नहीं। मगर हिन्दू चिन्ताओं को सदैव सामने रखना और उसके लिए काम करने वालों के साथ सतत सहयोग बनाये रखना जरूरी है। इसे टालना अपनी और हिन्दुओं की हार का मार्ग तैयार करना है।

जिन्हें यह लगे कि इस पूरे लेख में भारतीय जनता के स्थान पर केवल हिन्दू जनता की चिन्ता करना ठीक नहीं, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि मुस्लिम नेतृत्व को 'भारत' जैसी संज्ञा या विशेषण से अन्तर नहीं पड़ता। अन्यथा पाकिस्तान न बना होता। उनका मार्गदर्शक इस्लाम है, जिसमें उम्मत के सिवाय किसी के अस्तित्व या विकास की फिक्र नहीं है।

इसलिए भारत की चिन्ता व्यवहारतः मात्र हिन्दुओं की चिन्ता है। इस्लामी राजनीति करने वाले हरेक प्रकार के नेता और संगठन के विचारों, दस्तावेजों से इसे प्रामाणिक रूप से समझा जा सकता है। उसी प्रकार, माओवादी, सेक्यूलरवादी,

लिबरल, मानवाधिकारवादी, दलितवादी या मिशनरी बुद्धिजीवियों की भी चिन्ता भारत नहीं है। उन सबकी अपनी-अपनी विचारधाराएँ, उनके दस्तावेज, नारे व क्रिया-कलाप इसे असन्दिग्ध रूप से दिखाते हैं। बल्कि उनमें से कई तो भारत विखंडन को ही जरूरी मानते हैं।

अतएव, केवल हिन्दुओं को केन्द्र में रखकर भारत की चिन्ता करने के सिवा भारत की चिन्ता करना वास्तव में आत्म-प्रवचन है। इसके विपरीत खुले तौर से हिन्दू चिन्ता, हिन्दू नजरिया रखने से ही भारत को, उसके नेतृत्व को दुनिया में वास्तविक सम्मान मिलेगा। यह कितना भी 'लूनी' क्यों न लगे, पर सच है। आखिर अमेरिका द्वारा मोदी को वीसा न देने की टेक किसी बात से गयी, किस चीज ने उसे निरर्थक बना दिया।

गहि न जाई अस अद्भुत बानी : मुटुर मुटुर ताकती भारतीय आँखें

*मनोज कुमार राय

बहुत कम ऐसे साहित्यकार होंगे, जिन्होंने आपने लेखन के शुरू में ही यह घोषित कर दिया हो 'कि मेरा सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अंतर का हाहाकार', और जीवन भर अपने इस आदर्श पर दृढ़तापूर्वक बिना किसी लोभ लालच के डटे रहे। श्री कुबेरनाथ राय को इसका श्रेय प्राप्त है। श्री राय का यह क्रोध या आर्तनाद उनका निजी नहीं है, अपितु सम्पूर्ण भारत का है। श्री राय की ख्याति एक ललित निबंधकार के रूप में है। प्रस्तुत रचना संचयन के संपादक प्रो शुक्ल हों अथवा कोई और हों, वे भी उन्हें उसी रूप में देखते हुए एक रटी रटायी प्रस्थान त्रयी की कड़ी के रूप में देखते हैं। अपने विशद अध्ययन चिंतन के बावजूद प्रस्तुत रचना संचयन का संपादक भी इस मिथ से ऊपर नहीं उठ सका है। यद्यपि कि संपादक ने प्रारम्भ में ही कुबेरनाथ राय को 'एक विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न अनूठे साहित्यकार' के रूप में देखा है, जिसके 'लेखन का परिविस्तार अपनी अंतर्वस्तु और चेतना में अखिल भारतीय या राष्ट्रीय था'।

समीक्ष्य पुस्तक में प्रो शुक्ल की यह चिंता कि 'इधर हिन्दी आलोचना में मतवाद और विचारधारा का दुराग्रह समूची सर्जनात्मकता पर धुंध की तरह छा गया है।... कुछ जुमलों और कुछ दर्जन भर शब्दों (जार्गन) के सहारे जुगाली करते हुए उपजे हुए फेन से रचना को आच्छादित करके संगठन के बल से सृजन विरोधी वातावरण रच दिया गया है', स्वाभाविक और जायज है। पिछले कई दशकों से यह

*विकास एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र
समीक्ष्य पुस्तक : कुबेरनाथ राय रचना संचयन, सम्पादक : हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, मूल्य 250 रु.

देखने में आया है कि विश्वविद्यालयों से लेकर निजी संस्थानों तक में ऐसे लोगों की संख्या खूब बढ़ी है। दक्षिण-वाम की गोलबंदी/खेमे में हर रचना को देखने की प्रवृत्ति ने वस्तुतः साहित्य का ही नुकसान किया है। पर इसकी किसे चिंता? हर कोई पुरस्कार, छपास के रोग से ऐसा ग्रसित है कि हर विधा में हाथ आजमाने से न तो चूक रहा है, न ही अपनी कृतियों पर लोगों से लिखवाने के मोह से मुक्त हो पा रहा है। लेकिन कलयुग के इन विपरीत परिस्थितियों में श्री कुबेरनाथ राय का एक ही विधा और उसके माध्यम से भारतीयता के उद्घाटन के लिए 'अंगद के पाँव' की तरह जमे रहना भारतीय किसान के उद्यम, सिसृक्षा, तितिक्षा, दायित्वबोध, जिजीविषा को दर्शाता है। श्री राय भी किसान पुत्र हैं और यह पंचामृत उनको जन्मजात घृष्टी में मिली है।

श्री राय अपने निबंधों की सोद्देश्यता के संदर्भ में बार बार कहते हैं कि उनके लेखन का लक्ष्य है—'पाठकों की चित्त ऋद्धि का विस्तार करना और उसे एक परिमार्जित भव्यता देना।' अपने सम्पूर्ण लेखन के उद्देश्य की ओर इंगित करते हुए वे एक जगह लिखते हैं, "मेरा उद्देश्य रहा है हिन्दी पाठक के हिन्दुस्तानी मन को विश्वचित्त से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्वमन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करते हैं।" इस प्रतिबद्धता के पीछे उनकी यह निर्भ्रांत समझ है कि 'मनुष्य की सार्थकता उसकी 'देह' में नहीं, उसके 'चित्त' में है। उसके चित्त गुण को उसकी सोचने समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तीर्ण कराते चलना ही 'मानविकी' के शास्त्रों का, विशेषतः साहित्य का मूलधर्म है।" अपने उद्देश्य सिद्धि के लिए जो उन्होंने श्रम किया है, उसकी कल्पना मात्र से मन रोमांचित हो उठता है। इसके लिए उन्होंने प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य को तो खंगाला ही है, घर आँगन, वन जंगल के 'महाकांतार' में भी उनका 'रस आखेटक' मन मधुकी ग्रहण करने के लिए भटकता रहा है।

समीक्ष्य पुस्तक की भूमिका में संपादक ने स्वीकार किया है कि 'इतने व्यापक लेखन से केवल पच्चीस निबंधों का चयन किसी लेखक की सम्पूर्ण छवि प्रस्तुत करने का दावा... नहीं कर सकता।' बात सिर्फ पच्चीस-तीस निबंधों की प्रस्तुति भर ही नहीं है। श्री राय का अध्ययन क्षेत्र बड़ा विशाल और अद्भुत है। उनको पढ़ना अपने को समृद्ध करना होता है। उनके लेखन में जैसे लगता है कि नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, भाषाविज्ञान, अर्थ विज्ञान, भूगोल, इतिहास, मिथक, लोक, पुरातत्त्व, दर्शन, मनोविज्ञान, आधुनिक चिंतन, जातीय स्मृतियाँ आदि एक जीवंत कोश बनकर पाठक के सामने उपस्थित हो जाते हैं। पाठक उनके निबंधों को पढ़ते हुए उनके तर्क, अगाध ज्ञान और मिथकों की अधुनातन व्याख्या से एक साथ न केवल विस्मित, मुग्ध और प्रसन्न होता है, अपितु कई बार तो किताब बगल में रखकर आर्य निषाद किरात द्राविड़ के साथ कुलाँचे भरते हुए जम्बूद्वीप की यात्रा भी कर लेता है।

गांधी ने कहीं लिखा है—'मुझे अपने देश का नाम बड़ा प्यारा लगता है।' कुबेरनाथजी इसकी सही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं समीक्ष्य पुस्तक के निबंध 'जम्बूद्वीपे

भरतखंडे' में—“मुझे ‘भारत’ शब्द सुनकर इसका अर्थ... एक प्रकाशमय, संगीतमय भाव प्रत्यय या चैतन्य प्रतिमा के रूप में होता है। भारत की यह निराकार मूर्ति सूक्ष्मतर होने की वजह से अधिक कालजयी है। कोई जवाहरलाल या जिन्ना इसका ‘पार्टीशन’ या बंदरबॉट नहीं कर सकता।” इससे बड़ी चुनौती कोई लेखक दे सकता है क्या? दक्षिण अफ्रीका से लौटते समय गाँधी कहते हैं—“अब मैं भोग भूमि से कर्म भूमि की ओर जा रहा हूँ।” श्री राय इसी निबंध में आगे लिखते हैं—“इन सारे खंडों में सिर्फ भारतवर्ष ही ‘कर्मभूमि’ है, शेष खंड मात्र ‘भोगभूमि’...। कर्मभूमि होने के कारण ही भारतवर्ष मधुमय देश है।”

श्री राय को लोक संस्कृति और प्रकृति का अद्भुत ज्ञान है। नदी पर्वत, खेत-खलिहान, पुष्प-पौधे, पक्षी जानवर, जल जंगल जमीन आदि संबंधी उनका ज्ञान चकित कर देता है। समीक्ष्य पुस्तक में लगभग दर्जन भर ऐसे निबंध हैं, जिनमें श्री राय की यह प्रतिभा उभरकर सामने आई है। जंगल-जानवर का ज्ञान तो ऐसे लगता है, जैसे सामने ‘एनिमल प्लैनेट’ का चैनल चल रहा हो। श्री राय पाठक को प्रकृति के गोद में ले जाकर केवल छोड़ते भर नहीं हैं, वहीं वे जानवरों के माध्यम से व्यंग्य सौंदर्य को भी उद्घाटित करते हैं। महाकांतार निबंध में वे लिखते हैं “यह जीव (गैंडा) अपनी भारतीय ‘डेमोक्रेसी’ की तरह ‘मोट चम्पा’ और थेयर होता है। किसी भी प्रहार का कोई असर नहीं। और राजवाहन हस्ती के सामने घास में वैसे ही मुँह छिपा लेता है, जैसे प्रजातन्त्र वाहन नौकरशाही के सामने भारतीय जनता।” आधुनिक भारतीय राजनीति पर इससे रम्य व्यंग्य और क्या हो सकता है? उसी महाकांतार (निबंध) में आगे बढ़ने पर श्री राय को ‘सामने एक मृगयूथ मिल गयाएगोया वे उन्हीं (हमारा) का इंतजार कर रहें हों। मुटुर मुटुर ताकती आँखें।... इतना सुंदर ताकना! इतनी सुंदर दृष्टि : इतने सुंदर ढंग से तो विश्व में केवल भारतीय आँखें ही ताकती हैं।”

भारत के भूगोल की जानकारी जिस लालित्यपूर्ण ढंग से ‘महीमाता’ निबंध में प्रस्तुत करते हैं, वह एक कुशल भूगोल वेत्ता के लिए भी अविश्वसनीय-सा लगता है। वह भारत की ‘रूपसी धरा’ को ‘वर्णगत विशेषता’ और ‘रासायनिक बनावट’ की दृष्टि से दो भागों में बाँटते हैं सादा भारत अर्थात् आर्यावर्त और रंगीन भारत अर्थात् निषाद द्राविड़ किरात भारत। प्रथम के निर्मिति में नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी का योगदान है। इस मिट्टी के इनमें उपस्थित चीका और रेत के विविध परिमाण के आधार पर तीन रूप निर्धारित किए गए हैं ऊसर (रेत), मटियार (करईल) और दोमट (बलधुस)। श्री राय की नजर में ‘यह स्वर्णगर्भा वसुंधरा है, शस्य लक्ष्मी,... साक्षात् माता है’। ‘मिट्टी के भीतर ही एक प्राणधमी प्रक्रिया चलती है, जिसके अनुसार उसमें रासायनिक आत्म परिवर्तन होता रहता है’। इस निबंध को पढ़ते समय यह अहसास होता है कि काश इस रोचक ढंग से अगर बचपन में ‘भूगोल’ पढ़ाया गया होता तो उस विषय में रुचि और बढ़ गई होती और तब श्री राय का यह उद्घाटन कि ‘इस

प्रकार मिट्टी के रंग की दृष्टि से यह भारतवर्ष तिरंगा, त्रिवर्णी भूमि है सादी, लाल और काली’, आसानी से हृदयंगम हुई होती।

श्री राय के लेखन में आत्मविश्वास जबर्दस्त है। श्री राय उस ऋषि परंपरा के साहित्यकार हैं, जो व्यास, वाल्मीकि, कालीदास और तुलसीदास से होती हुई रवीन्द्र-निराला तक आती है। वे कहते हैं, “मेरा जन्म तुलसीदास की भूमि पर हुआ है। उनके द्वारा दिए गए उत्तराधिकार का मैं भी भागीदार हूँ। इसका मुझे औसत से ज्यादा घमंड रहता है।” और हो भी क्यों न?... छद्म सेकुलरी लेखन को वे नापसंद करते थे। वे ताल ठोककर कहते हैं—“और हिन्दू तो है ही, हूँ। अपने बाप को कैसे कह दूँ कि यह मेरा बाप नहीं। और यदि ऐसा कहूँ तो मुझसे बड़ा कमीना कौन होगा।” आज जब चारों तरफ पुरस्कार लेने लौटाने का दुष्प्रचलन रहा हो, वैसे में श्री राय का कथन और भी मानीखेज हो जाता है। सच तो यह है कि जिसके पास आत्मिक मूलाधार और भारतीयता का आधार भूमि होगी, उसके लिए यह सामान्य बात होगी। श्री राय का सम्पूर्ण लेखन इसी से लबरेज है। इसीलिए तो वे कहते हैं—“देश को राजनीति के बाहर जाकर इतिहास, भूगोल, धर्म, संस्कृति और समाज में पहचानना होगा। ऐसा ‘देशात्मबोध’ ही सबल और सही देश भक्ति को जन्म देगा। देशभक्ति को छोड़कर और कोई उबरने का रास्ता नहीं है।”

श्री राय जहाँ से आते हैं उस क्षेत्र में आय के सीमित संसाधन ही उपलब्ध हैं। सरकारी नौकरियों में भाई भतीजावाद, वैचारिक जकड़बंदी का जबर्दस्त बोलबाला था/है। आज तो हालात यह है कि हर नियुक्ति पर आप उंगली रख सकते हैं। आत्मसम्मान से समझौता न करनेवाले श्री राय को सूरूर पूर्वोत्तर भारत में जाना पड़ता है—“मैं अपनी जन्मभूमि गंगातट से प्रायः दूर रहने को बाध्य हूँ और जीविकोपार्जन के लिए इस किरातारण्य से घिरे आर्यों के बीच, लौहिय तट पर, निवास कर रहा हूँ।” वहाँ भी रहते हुए उन्होंने अपने को लक्ष्य से विरत नहीं होने दिया। साहित्य साधना में सतत लगे रहे। प्राचीन भारत की अद्भुत परम्पराओं/मिथकों की व्याख्या करते रहे और वामपंथियों को ललकारते रहे—“भारत में एक भी वामपंथी नहीं जन्मा, जिसके पास पढ़ी हुई किताब से एक कदम आगे सही सजीव सत्य को देखने की क्षमता हो।” यह कथन भी किसी लाभ लोभ के लिए नहीं था। भारतमाता के प्रति एक नैसर्गिक आस्था थी। उनके निशाने पर न सिर्फ वामपंथी ही नहीं हैं, अपितु हिन्दी का झण्डा माइक लेकर दिन रात चक्रमण करने वाले उद्भट विद्वान भी हैं—“हिन्दी के ये ‘हीरो’ लोग भी अपने अंतःकरण को एक बार, साल भर में कम से कम एक बार टटोलें और अपने कर्मों की जवाबदेही तुलसी कबीर प्रेमचंद आदि की स्मृति में मन ही मन स्वयं को दें। मात्र तुलसी कबीर और और प्रेमचंद के बल पर ‘अँग्रेजी हटाओ’ किस सीमा तक सार्थक हो सकता है।... आधे देश की मानसिक संरचना हिन्दी के साहित्यकारों के जिम्मे है। हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण विकास का अर्थ होता है, देश की आधी

जनता के मानस का सर्वांगीण विकास। यह अखबारबाजी से नहीं हो सकता।” उनके इस दर्द को कौन सुनता है? सभी को जल्दी पड़ी है ‘पद’ और ‘छपास’ की।

श्री राय अपनी सामाजिक दायित्व को भी अच्छी तरह समझते हैं। बेकारी के दिनों में अपनी क्षुधा पूर्ति के लिए पशुओं के गोबर से अनपचे अन्न को निकालकर रखनेवाली एक जाति विशेष की दुर्दशा उनके लिए असहनीय है—“रस आखेटक जब यह सोचता है तो उसकी आत्मा में घाव हो जाता है, उसका घोड़ा तनकर खड़ा हो जाता है, उसके मन में क्रोध के पवित्र फूल फूटने लगते हैं।” जातिवाद इस देश की उन्नति के लिए सैकड़ों वर्षों से अभिशाप बनी हुई है। श्री राय यह मानने को तैयार नहीं हैं कि यह प्रथा प्राचीन काल में भी ऐसी ही थी—“यह आज की तरह अन्यायपूर्ण जन्मसिद्ध ‘जबर्दस्ती’ न होकर सीधा-सादा स्वभावगत और कर्मगत विभाजन था और एक ही परिवार में तरह-तरह के कर्म करने की छूट थी।” पर निजी स्वार्थवश कुछ लोगों ने इसको तोड़-मरोड़कर अपने पक्ष में व्याख्यायित किया और निकल पड़ी एक अमानवीय प्रथा। श्री राय आशावादी हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि—“इस शताब्दी के अंत होते-होते...यह भी शेष भारत की डिजाइन में आ जाएगा... प्रक्रिया तो शुरू हो गई थी, परंतु हजार वर्ष का मध्यकाल बीच में व्यवधान डाल गया।” अब इसकी जिम्मेदारी हमारी पीढ़ी को है कि वह इस प्रथा को दूर करने के लिए अपनी आहुति दे।

इतिहास की समझ और परंपरा-बोध में तो श्री राय का कोई सानी नहीं है। वृहत्तर भारत के इतिहास और उस इतिहास में पसरे लोक को खोजते हुए समुद्र पार कर शैवाल द्वीप की यात्रा कर आते हैं। और लौटते हैं सदा मणि लेकर—“असंख्य अनाम अगस्त्यों ने इस भारत सावित्री को इस प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया की आत्मा में उतारकर प्रतिष्ठित कर दिया।” ‘अगस्त्य तारा’, ‘निषाद बाँसुरी’, ‘भारतीय किरात’ आदि निबंधों में लेखक की यह प्रतिभा निखरकर सामने आई है—“कई शताब्दी पूर्व का एक दृश्य।...जावा, सुमात्रा, बालीद्वीप या अन्य किसी ऐसी ही भूमि का कोई भी समुद्रतट।...ईशानकोण से भारतीय जलयानों की पाँत धीरे 2 निकट आ रही है।... सारा थोक माल पोतों में भरा पड़ा है। नाविक माल उतारने में व्यस्त है और मन ही मन संतोष की साँस ले रहे हैं कि वरुण कृपा से यात्रा सकुशल रही।” संघर्ष भरी यात्रा पूरा करने के बाद श्री राय का मन बड़े विश्वास से कहता है—“इसी से तो मैं बार-बार कहता हूँ भारतीय इतिहास और लोक संस्कृति, लोक धर्म और लोकभाषा का महत्तम समापवर्तक ‘निषाद’ अर्थात् आस्ट्रिक है, आर्य नहीं।”

आज जीवन की आपाधापी में जिसे देखिए, वही लिखने के लिए आतुर है। इसके लिए लेखन के हर विधा में हाथ आजमाना चाहता है। पर केवल एक विधा के माध्यम से साधना कर शीर्ष प्रतिष्ठा अर्जित करना कुबेरनाथ के ही बस की बात है। उन्होंने ‘भारतीय पुरा-विद्या और मिथकों का मर्म खोला है’। इसमें सहायक है ‘ललित निबंध’ विधा। इस विधा पर उनकी टिप्पणी देखने लायक है—“ललित निबंध एक

ऐसी विधा है, जो एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है। एक ही साथ, आगे पीछे के क्रम में नहीं।” ललित निबंध की परिभाषा से ‘शिव के साँढ’ का कोई भी संबंध हो सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। पर श्री राय की तो बात ही अलग है—“विषय के आसपास शिव के साँढ की भाँति मुक्त चरण और विचरण ललित निबंध है।” निबंध/बात शुरू करने की श्री राय रोचक शैली है। बात शुरू करते हैं घर गाँव के आँगन से ही, पर पहुँच जाते हैं भारतीय साहित्य के उस पुरा काल में जहाँ से अमृत दिन रात झरता है। समीक्ष्य पुस्तक के प्रथम निबंध की शुरुआत कुछ यों होती है “आदिम निषाद ने मुझसे कहना प्रारम्भ किया...”। एक अन्य निबंध ‘लोक सरस्वती’ की प्रारम्भिक पंक्ति है “इसी ग्रीष्मावकाश की बात है...”। फिर तो वे इतिहास से मधु का एक एक बूँद निचोड़कर पाठक के सामने रखने लगते हैं। जिस पाठक ने एक बार इस ‘मधु’ को चख लिया, वह उनका मुरीद हुए बिना नहीं रहता।

श्री राय की विशेषता एक यह है कि वे गंभीर से गंभीर चिंतन को भी सृजनशील लालित्य का रूप देने में समर्थ हैं। संपादित ग्रंथ में ‘ज्यां पाल सार्त्र : नव्य मार्क्सवाद की ओर’ इसका एक उदाहरण है। इस निबंध में श्री राय कहते हैं—“शोषक वर्ग का अंत हो जाना ही आखिरी बात नहीं, अंतिम लक्ष्य है अभाव का अंत”। इसी निबंध के अगले पृष्ठ पर वे कहते हैं—“मार्क्स कहता है कि सर्वहारा को बेड़ियों के अतिरिक्त कुछ खोना नहीं है। पर सार्त्र कहता है और ठीक ही कहता है कि सर्वहारा को भी एक चीज खोनी है और वह है उसका जीवन जो सबसे बड़ा मूलधन है! शेष सारी सफलता, असफलताएँ सूद ब्याज हैं पर जीवन है मूलधन।” हिन्दी जगत में इस तरह का लेखन दुर्लभ है।

श्री राय अपार साहस लेकर अवतरित हुए हैं। वे लिखते हैं—“मनुष्य की मनुष्यता के प्रति मेरे इस प्रतिबद्धता को कोई गाली देना चाहे तो दे, परंतु मैं मनुष्य को (और उसकी अपनी ही प्रतिमा के रूप में ‘ईश्वर’ और ‘प्रकृति’ को भी) छोड़कर अन्य किसी के प्रति साहित्य को प्रतिबद्ध नहीं मानता। शेष अन्य प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अधूरी हैं, चाहे वह प्रतिबद्धता बहुविज्ञापित समाजवाद के ही प्रति क्यों न हो।” इसीलिए वे अपने सर्वप्रिय पुस्तक ‘रामचरित मानस’ में भी संशोधन प्रस्तावित करने का दुस्साहस करते हैं मेरा तो प्रस्ताव सिर्फ एक दर्जा ‘आक्रामक’ चौपाइयों को, जो गाली-गलौज-सी लगती हैं (भले ही 16वीं शती में तर्कसम्मत लगती रह हों) निकाल देने का है। क्योंकि आज उनका अस्तित्व ‘मानस’ में कलंक की तरह है।” गाँधी-तुलसी के प्रति श्री राय की श्रद्धा जगजाहिर है। पर उनके लिए युगधर्म भी एक बड़ी चीज है, क्योंकि वे मानकर चलते हैं कि ‘संतप्त थककर बैठे हुए का योजन लंबा होता है और जागनेवाले की रात लंबी होती है। हमें थककर बैठना नहीं है। हमें चल देना है।”

पाठकीय प्रतिक्रिया

सामान्यजन संदेश

(अंक 110 जुलाई/अगस्त/सितंबर 2015.) में प्रकाशित:

चिन्तन-सृजन अनेक लेखकों के समसामयिक तथा ऐतिहासिक लेखों का पुष्प गुच्छ है जिसमें शंकर पुणतावेकर के 'कालेज से निवृत्ति' नामक लेख में क्लास रुम, अध्यापक तथा शिक्षण संस्थओं के वर्तमान परिदृश्य को प्रस्तुत किया गया है। श्री अरविंद के भारत-विषयक कुछ विचारों का संकलन 'भारत' शीर्षक से दिया गया है जिसमें राष्ट्रवाद तथा संपूर्ण विश्व के देशों के प्रतिनिधित्व की क्षमता है। शंकर शरण ने अपने लेख में भारत की शिक्षा के इतिहास को बताया है। नरेश कुमार अम्बष्ट ने वर्तमान संदर्भ में गाँधी के विचारों में सम्बन्ध स्थापित करने का एक ईमानदार व यथार्थ प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह अंक भी, चिंतनशील, सार युक्त और विचार परक साहित्यिक स्तर का निर्वहन करनेवाला है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

उपनिषदों का नीति-दर्शन, सम्पादक: डॉ. सन्तोष आचार्य; प्रकाशक: देवेन्द्रराज मेहता, संस्थपक एवं मुख्य संरक्षक प्राकृत भारती अकादमी, 13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017; प्रथम संस्करण: 2014 ई.; प. ठ: 220; मूल्य: 250 रुपये।

संघर्ष का छोर नहीं, सम्पादक: शुभदर्शन; प्रकाशक: सभ्या प्रकाशन, WH-44, मायापुरी इंडस्ट्रीयल एरिया, फेस-1, नई दिल्ली-110064; संस्करण: सितंबर 2015; पृष्ठ: 140; मूल्य: 250 रुपये।

मन द्वारा उपचार, सम्पादक: सीताराम गुप्ता; प्रकाशक: फुल सर्कल पब्लिशिंग प्रा.लि., जे-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110003; प्रथम संस्करण: फरवरी 2007; पृष्ठ: 144; मूल्य: 95 रुपये।

संवाद और हस्तक्षेप खंड-20, प्रकाशन वर्ष 2015; सम्पादक: डॉ. सुनीता खत्री, प्रकाशक: मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, एवं पं रविशंकर शुक्ल हिन्दी भवन न्यास, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002; पृष्ठ: 180; मूल्य: 100 रुपये।

पत्रिकाएँ:

नया प्रतिमान अव्यावसायिक साहित्यिक त्रैमासिक, अंक 11 अगस्त 2015; संपादक: राजेन्द्र मेहरोत्रा, श्याम किशोर; प्रकाशक: निखिल मेहरोत्रा, प्रतिमान प्रकाशन, 237/444-ए, कटघर, बड़ी मस्जिद के पीछे, इलाहाबाद-211003; पृष्ठ: 240; मूल्य: 80 रुपये।

POETCRIT (A international Refereed Bi-annual Journal of Literary Criticism & Contemporary Poetry) XXVIII July 2015 No.2; Editor: DC Chambial.

सेवा में,

आस्था भारती
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट,
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-स जन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु
.....रुपये चेक/बैंक ड्राट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए
है (✓ टिक करें)।

नाम :

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) :

.....

.....

.....

फोन न. :

ई-मेल :

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राट “आस्था भारती” के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली
में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए 60.00 रुपए

व्यक्तियों के लिए 20.00 रुपए संस्थाओं

और पुस्तकालयों के लिए 150.00 रुपए

संस्थाओं के लिए 40.00 रुपए

तीन वर्ष:

व्यक्तियों के लिए 180.00 रुपए

संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 400.00 रुपए